

दुनिया की अर्थव्यवस्था ढाँचागत संकट की गिरफ्त में

आज पूरी दुनिया एक अभूतपूर्व आर्थिक संकट के भंवर में गोते लगा रही है। 2007-08 में अमरीका में सबप्राइम गृह ऋण का बुलबुला फूटने के बाद शुरू हुआ वित्तीय महासंकट अब पूरी दुनिया को अपनी गिरफ्त में ले चुका है। यूरोप के कई देशों की अर्थव्यवस्थाएँ एक-एक कर तबाह होती जा रही हैं। भारत में भी विकास का गुब्बारा पिचकने लगा है। बीस साल पहले उदारीकरण-निजीकरण की जिन नीतियों को रामबाण दवा बताते हुए लागू किया गया था, उनकी पोलपट्टी खुल चुकी है। विकास दर, विदेश व्यापार घाटा, मानव सूचकांक, महँगाई, बेरोजगारी जैसे लगभग सभी आर्थिक मानदण्ड इसकी ताईद कर रहे हैं। कमोबेश यही हालत दूसरे देशों की भी है।

विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का यह संकट ढाँचागत, सर्वग्रासी और असमाधेय है। मानव जीवन का कोई भी पहलू इससे अछूता नहीं है। आर्थिक संकट राजनीतिक संकट को जन्म दे रहा है, जो आगे बढ़ कर सामाजिक-सांस्कृतिक-वैचारिक संकट को गहरा रहा है। यहाँ तक कि हमारा भूमंडल भी पूँजीवाद की विनाशलीला को अब और अधिक बर्दाश्त कर पाने में असमर्थ हो चुका है। प्राकृतिक संसाधनों के बेतहाशा दोहन और बेहिसाब कार्बन उत्सर्जन से होनेवाले जलवायु परिवर्तन और ग्लोबल वार्मिंग के कारण आज पूरी धरती पर विनाश का खतरा मंडरा रहा है।

इस चौतरफा संकट के आगे पूँजीवादी शासक और उनके विद्वान हतप्रभ, हताश और लाचार नजर आ रहे हैं। इसका ताजा उदहारण है जून माह में मौजूदा संकट को लेकर आयोजित दो विश्व स्तरीय सम्मेलनों का बिना किसी समाधान तक पहुँचे ही समाप्त हो जाना। इनमें से एक था, रियो द जेनेरियो (ब्राजील) में धरती को विनाश से बचाने के लिये आयोजित रियो+ पर्यावरण सम्मेलन और दूसरा यूरोपीय देशों के आर्थिक संकट के बारे में लोस काबोस (मैक्सिको) में आयोजित जी-20 की बैठक। इन दोनों ही सम्मेलनों के दौरान भारी संख्या में एकत्रित आन्दोलनकारियों ने इस संकट के लिये जिम्मेदार, साम्राज्यवादी वैश्वीकरण की नीतियों के खिलाफ लोगों ने

जबरदस्त विरोध प्रदर्शन किया।

★★★★★

2007 में विराट अमरीकी निवेशक बैंक लेहमन ब्रदर्स के डूबने के साथ ही वहाँ 1929 के बाद का सबसे बड़ा आर्थिक विध्वंश शुरू हुआ। इसे रोकने के लिये अमरीका ने मुक्त व्यापार के ढकोसले को त्यागते हुए सरकारी खजाने से 1900 अरब डॉलर सट्टेबाजों को दिवालिया होने से बचाने के लिये झोंका। तभी से यह कहावत प्रचलित हुई- “मुनाफा निजी, घाटा सार्वजनिक।”

इस भारी रकम से वित्तीय तंत्र तत्काल ध्वस्त होने से तो बच गया, लेकिन संकट और गहराता गया। हुआ यह कि बैंकों ने अपने 3400 अरब डॉलर के सीधे नुकसान और अरबों-खरबों डॉलर के डूबे कर्जों से खुद को सुरक्षित रखने के लिये सरकार से मिले डॉलरों से नये कर्ज बाँटने के बजाय अपनी तिजोरी में दबा लिये। सटोरियों की करनी का फल वास्तविक उत्पादन में लगी अर्थव्यवस्था को भुगतना पड़ा, क्योंकि उत्पादन जारी रखने के लिये जरूरी उधार की कमी से जूझ रहे उद्योगों के लिये कार्यशील पूँजी का संकट ज्यों का त्यों बना रहा। बैंकों को दी गयी सरकारी सहायता राशि रसातल में समा गयी। शेयर बाजार का भूचाल पूरी अर्थव्यवस्था और सरकारी मशीनरी को झकझोरने लगा। आज वहाँ बेरोजगारी 10 फीसदी है, जबकि भारी संख्या में लोग अर्द्ध बेरोजगार हैं। लेकिन यह संकट अमरीका तक ही सीमित नहीं रहा। जल्दी ही यह संकट पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था पर अपना असर डालने लगा। विश्व व्यापार में 12 फीसदी की कमी आयी है, जो महामंदी के बाद की सबसे बड़ी गिरावट है।

यूनान दिवालिया होने के कगार पर पहुँच गया। यही हाल यूरोप के कुछ अन्य देशों- इटली, पुर्तगाल, आयरलैंड और स्पेन का भी हुआ। उन्हें उबारने के लिये झोंकी गयी मुद्राकोष और यूरोपीय संघ की पूँजी भी अर्थव्यवस्था को गति देने के बजाय रसातल में समाती गयी। आर्थिक विध्वंस की कीमत हर जगह मेहनतकश जनता को चुकानी पड़ी। सरकारों ने

सट्टेबाजों, बैंकों और निगमों के हित में अपने जनविरोधी कदमों को और कठोर किया। मकसद साफ था- स्वास्थ्य, शिक्षा जैसी जरूरी सरकारी सेवाओं और सब्सीडी में कटौती, आम जनता पर टैक्स का बोझ और वेतन में कमी करके उससे बचे धन से सटोरियों की हिफाजत। यह फैसला पूँजीवाद के संचालकों के वैचारिक दिवालियेपन की ही निशानी है, क्योंकि मंदी के दौरान सरकारी खर्च और लोगों की आय में कटौती करके जानबूझ कर माँग कम करना आत्मघाती कदम होता है। इन उपायों ने मंदी को और भी गहरा कर दिया।

पूँजीवाद जब भी संकट ग्रस्त होता है तो उसके रक्षकों को मसीहा के रूप में जॉन मेनार्ड कीन्स की याद आती है, जिन्होंने 1929 की मंदी के बाद सरकारी खर्च बढ़ा कर लोगों की माँग बनाये रखने का सुझाव दिया था। इस बार भी पॉल क्रुम्वान सरीखे कई अर्थशास्त्रियों ने वही पुराना राग अलापा। अब्वल तो सट्टेबाजी के वर्चस्व वाले इस अल्पतंत्र से ऐसी उम्मीद ही बेकार है, लेकिन यदि वे ऐसा करें भी तो इस खर्च से बढ़ने वाले सरकारी कर्ज को भी वित्तीय उपकरण बना कर उसे शेयर बाजार में उतार दिया जायेगा। उधर संकुचन के माहौल में ऐसे बॉण्ड को भला कौन खरीदेगा? तब सरकारी कर्ज का संकट बढ़ेगा और सरकार का ही दिवाला पिट जायेगा, जैसा यूरोप के देशों में हुआ।

पूँजीवादी दायरे में संकट का हल तो यही है कि आर्थिक विकास तेजी आये तथा माँग और पूर्ति के बीच संतुलन कायम हो। लेकिन यह इंजन पहले ही फेल हो चुका है। 1970 के दशक में रोनाल्ड रीगन और मागरेट थेचर ने राष्ट्रीय आय को मजदूरों से छीनकर पूँजीपतियों की तिजोरी भरने की दिशा में मोड़ दिया था। आर्थिक विकास और मुनाफे की दर बढ़ाने के लिये धन जुटाने के नाम पर मजदूरी और सरकारी सहायता में कटौती की गयी थी। पूँजीवाद के इन नीम हकीमों का नया अर्थशास्त्र (रीगोनॉमिक्स-थैचरोनॉमिक्स) जिसे कई दूसरे देशों ने भी अपनाया, रोग से भी घातक साबित हुआ। इससे आय की असमानता तेजी से बढ़ी, बहुसंख्य आवादी की क्रय-शक्ति गिरी और माँग में भारी कमी आयी।

शेयर बाजार में पूँजी निवेश और बाजार की माँग बढ़ाने के लिये अर्थव्यवस्था का वित्तीयकरण किया गया, जिसमें सरकार द्वारा कर्ज लेकर सरकारी माँग को फर्जी तरीके से बढ़ाना, बाजार और मुनाफे से सभी नियंत्रण हटाना, ब्याजदर में भारी

कमी और कर्ज की शर्तें आसान बनाना, सट्टेबाजी के नये उपकरणों, जैसे ऑप्संस, फ्यूचर्स, हेज फंड इत्यादि का आविष्कार करना और घरेलू कर्ज के गुब्बारे को फुलाते जाना शामिल था। 1980-85 में अमरीका का कुल कर्ज सकल घरेलू उत्पाद का डेढ़ गुना था, जो 2007 में बढ़ कर साढ़े तीन गुना हो गया। उधर पूँजीपतियों का मुनाफा भी 1950 के 15 प्रतिशत से बढ़ कर 2001 में 50 प्रतिशत हो गया। लोगों की आय बढ़ाये बिना ही मुनाफा बाजार में तेजी कायम रही। लोग उस पैसे को खर्च कर रहे थे जो उनका था ही नहीं। 1970 से 2006 के बीच घरेलू कर्ज दो गुना हो गया। लेकिन 2007 आते-आते सब-प्राइम गृह ऋण के विध्वंस के रूप में कर्ज की हवा से फुलाया गया विकास का गुब्बारा फट गया। इस पूरे प्रकरण ने पूँजीवाद की चरम पतनशीलता, परजीविता और मरणासन्नता को सतह पर ला दिया।

सतत विकास पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का स्वाभाविक लक्षण नहीं है और पिछले 2 सौ वर्षों से यदि यह व्यवस्था मंदी की मार से बचती चली आ रही है तो इसके पीछे अलग-अलग दौर में सक्रिय बाहरी कारकों की ही भूमिका रही है। इनमें प्रमुख हैं- उपनिवेशों का विराट बाजार, सस्ता श्रम और कच्चे माल का विपुल भंडार, दुनिया के बँटवारे और पुनर्बँटवारे के लिये लड़ा गया साम्राज्यवादी युद्ध, नरसंहार और तबाही के हथियारों का तेजी से फैलता उद्योग, युद्ध की तबाही से उबारने और पुनर्निर्माण के ऊपर भारी पूँजी निवेश, अकूत पूँजीनिवेश की संभावना वाली (जैसे- रेल या मोटर कार) नयी तकनीक की खोज, शेयर बाजार की अमर्यादित सट्टेबाजी इत्यादि। और जब एक के बाद एक, ये सारे मोटर फुँकते चले गये तो आखिरकार अर्थव्यवस्था का वित्तीयकरण करके सस्ते कर्ज के दम पर उसे गतिमान बनाये रखने का नुस्खा आजमाया गया। मौजूदा विश्व आर्थिक संकट इसी की देन है।

इस जर्जर विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में ठहराव अब स्थाई परिघटना बन गया है। अतिरिक्त उत्पादन क्षमता, अत्यल्प उपभोग और मुनाफे में लगातार गिरावट के लाइलाज रोग का इसके पास कोई निदान नहीं है। पूँजीवादी देश अपने संकट का बोझ एक-दूसरे पर डालने के लिये धींगा-मुश्ती कर रहे हैं।

इस संकट के परिणामस्वरूप पूरी दुनिया पर दो अत्यंत गम्भीर खतरे मंडरा रहे हैं- पहला, प्राकृतिक संसाधनों के बेतहाशा दोहन के कारण धरती के विनाश का खतरा और दूसरा,

हथियारों की होड़, युद्ध, नरसंहार का खतरा, जिनका जिक्र करना बहुत जरूरी है।

★★★★★

औद्योगिक क्रांति के बाद लगातार 200 सालों तक कोयला, पेट्रोलियम और ऊर्जा के अन्य साधनों के अंधाधुंध इस्तेमाल और कच्चा माल के लिये प्राकृतिक संसाधनों के बेतहाशा दोहन के चलते धरती तेजी से गर्म होती गयी। नतीजा यह कि साइबेरिया के बर्फीले मैदान पिघल रहे हैं और उनसे मिथेन गैस का रिसाव हो रहा है जो धरती और जलवायु के लिये कार्बन डाई ऑक्साइड से 30 गुना ज्यादा खतरनाक है। ग्लोबल वार्मिंग के कारण आर्कटिक महासागर की बर्फीली सतह और हिमालय सहित दुनियाभर के ग्लेसियर पिघलने से समुद्र का जलस्तर हर साल 2 सेंटी मीटर ऊपर उठ रहा है। असी का नतीजा है 1998 में बांग्लादेश का 65 प्रतिशत इलाका बाढ़ में डूब गया था। 16 लाख की आबादी वाले भोला द्वीप का आधा हिस्सा बाढ़ में बह गया। अनुमान है कि ग्लोबल वार्मिंग से पैदा होने वाली बीमारियों की चपेट में आने से बांग्लादेश के डेढ़ लाख लोग हर साल मर जाते हैं। बांग्लादेश ही नहीं, दुनिया के कई इलाके ऐसा ही प्रकोप झेल रहे हैं।

विकास के नाम पर पूँजीवाद ने पूरी दुनिया में जो विध्वंस किया है उसके कारण आज हर घंटे पौधे और जानवरों की तीन प्रजातियाँ लुप्त हो जा रही हैं। पिछले 35 सालों में ही रीढ़धारी प्राणियों की एक तिहाई प्रजातियाँ धरती से गायब हो गईं। और अब इंसानों की बारी है। पूर्वी अफ्रीका के अर्धसिंचित इलाकों में बारिस न होने के चलते इथियोपिया, सोमालिया, केन्या और सूडान में लगातार सूखा पड़ रहा है। दारफुर में 1984-85 के अकाल में एक लाख लोग मर गये। यह हालत तो तब है जब कार्बन की मात्रा 3870 अंश प्रति टन है। अनुमान है कि जल्दी ही यह 4000-4500 लाख अंश प्रति टन हो जाने वाला है। इसके कारण धरती का औसत तापमान 2 डिग्री सेल्सियस बढ़ जायेगा और जलवायु में अचानक भारी बदलाव आयेगा। तब धरती को बचाना भी असम्भवप्राय हो जायेगा।

दुनियाभर के वैज्ञानिक धरती पर मँडराने वाले खतरे की चेतावनी दे रहे हैं, लेकिन शोषक-शासक पूँजीपति वर्ग के कान पर जूँ नहीं रेंगती। वे ज्वालामुखी के मुहाने पर बैठकर जश्न मना रहे हैं और पूरी धरती को विनाश की ओर धकेल रहे हैं। विश्व पर्यावरण सम्मेलन मजाक बन कर रह गये हैं। पृथ्वी

सम्मेलन (1992) से लेकर रियो सम्मेलन (2012) तक, और इन बीस वर्षों में हुए क्वेटो, कोपेनहेगन और कानकून बैठकों की असफलता से जाहिर है कि दुनिया के शासकों को धरती के विनाश की कोई परवाह नहीं। उल्टे अब वे जलवायु संकट या ग्लोबल वार्मिंग की सच्चाइयों को ही झुठलाने पर आमादा हैं। साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के बाद से प्रकृति का दोहन और ऊर्जा का इस्तेमाल पहले से कई-कई गुना अधिक हो गया है। भारत में भी आज देशी-विदेशी पूँजी के नापाक गठबंधन से हर तरह के खनिज पदार्थ की लूट अपने चरम पर है। इसके लिये कानून की धज्जी उड़ाना, उन इलाकों के निवासियों को उजाड़ना और विरोध के स्वर को बंदूकों के दम पर कुचलना, औपनिवेशिक दौर में गुलाम बनाये गये देशों पर ढाये जाने वाले कहर की याद ताजा करते हैं। पहले जो दमन-उत्पीड़न विदेशी आक्रांता करते थे, वही अब बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ साँठ-गाँठ करके अपने ही देश के शासक कर रहे हैं।

★★★★★

जहाँ तक हथियारों की होड़ और युद्ध का सवाल है, चरम परजीवी और मरणासन्न वित्तीय पूँजी के इस युग का एक चारित्रिक लक्षण है युद्ध। पिछली एक सदी के इतिहास पर नजर डालें, तो शायद ही कोई दिन गुजरा होगा जब धरती के किसी न किसी कोने में साम्राज्यवादियों द्वारा थोपा गया युद्ध या गृहयुद्ध जारी न रहा हो। 1929 की महामंदी के बाद भी व्यापार युद्ध और आगे चलकर विश्व युद्ध की फिजा बनने लगी थी और अपने संकट से निजात पाने के लिये साम्राज्यवादी खेमे ने पूरी दुनिया को विश्वयुद्ध की आग में झोंक दिया था। आज स्थिति हू-ब-हू वैसी ही नहीं है। साम्राज्यवादी देशों के बीच फिलहाल आपसी कलह और टकराव का स्तर वहाँ नहीं पहुँचा है कि वे आमने-सामने खड़े हो जायें। खेमेबंदी और गलाकाट प्रतियोगिता उसी रूप में नहीं है। लेकिन संकट गहराने के साथ ही अंदर-अंदर टकराव और मोर्चाबंदी चल रही है। नये संश्रय कायम हो रहे हैं, एक ध्रुवीय विश्व की छाती पर नयी-नयी गोलबन्दियाँ हो रही हैं। हालाँकि अभी अमरीका को सीधे चुनौती देने वाला कोई गुट नहीं उभरा है, लेकिन विश्व रंगमंच की ढेर सारी घटनाएँ बताती हैं कि अब बीस साल पहले वाली बात नहीं रही। 'वाशिंगटन आम सहमति' के भीतर दरार दिखने लगे हैं, चाहे ईरान पर प्रतिबन्ध की बात हो, सीरिया का मामला हो या संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न प्रस्तावों का।

आने वाले समय का अनुमान लगाने के लिये सितम्बर 2002 में प्रकाशित अमरीकी सुरक्षा रणनीति दस्तावेज पर गौर करना जरूरी है, जिसमें कहा गया था कि “हम दूसरी महाशक्तियों का मजबूती से प्रतिरोध करेंगे।... हम महाशक्तियों के बीच प्रतियोगिता की पुरानी बुनावट के दुबारा उभरने की सम्भावना के प्रति सचेत हैं। आज अनेक महाशक्तियाँ आतंरिक संक्रमण से गुजर रही हैं, जिनमें रूस, भारत और चीन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।... यह अमरीकी सैन्य शक्ति की अनिवार्य भूमिका को एक बार फिर सुनिश्चित करने का समय है। हमें अपने सुरक्षा बल का इस तरह निर्माण और देखरेख करना जरूरी है, कि कोई उसे चुनौती न दे सके।” इस दस्तावेज में असली चिन्ता चीन को लेकर थी। उल्लेखनीय है कि इसी के बाद से भारत में महाशक्ति बनने का शेखचिल्लीपन पैदा हुआ जो बेबुनियाद है बहरहाल एक ध्रुवीय विश्व और साम्राज्यवादी समूह के निर्विकल्प चौधरी की यह चिन्ता वैश्वीकरण के इस दौर में काफी महत्त्व रखता है।

सच तो यह है कि आज विश्व शांति के लिये अमरीका से बढ़कर कोई दूसरा खतरा नहीं है। इसकी अर्थव्यवस्था भले ही लगातार नीचे लुढ़क रही हो, सैनिक ताकत के मामले में आज भी इसका कोई सानी नहीं। पिछले बीस बरसों से दुनिया के कुल सैनिक खर्च का एक तिहाई अकेले अमरीका करता है। 2011 में यह खर्च चीन से पाँच गुना, रूस से दस गुना, भारत से पन्द्रह गुना और ईरान से चालीस गुना था। आर्थिक रूप से संकट ग्रस्त होने के बावजूद अमरीका अपनी सैनिक वरीयता बनाये हुए है और इसी से अपनी आर्थिक बर्बादी की क्षतिपूर्ती करता है। सैनिक मामलों में अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिये उसके पास दो बहाने हैं- तेल के स्रोतों पर कब्जा और चीन का भय।

साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में शामिल होने के बाद चीन का जिस तरह विकास और विस्तार हुआ है, उसे देखते हुए अमरीका का यह भय बेबुनियाद नहीं। चीनी अर्थव्यवस्था सट्टेबाजी पर नहीं, बल्कि मूलतः वास्तविक उत्पादन के दम पर गतिमान है। दो सौ साल देर से पूँजीवादी दौड़ में शामिल होने के बावजूद, लगभग तीन दशकों तक वहाँ लागू की गयी समाजवादी नीतियाँ और उत्पादक शक्तियों का चहुँमुखी विकास आज भी वहाँ पूँजीवादी विकास का उल्लेख है। दुनिया के कुल लौह अयस्क की सालाना खपत का 30 प्रतिशत, इस्पात 27 प्रतिशत, अल्युमिनियम 25 प्रतिशत, कोयला 31 प्रतिशत और पेट्रोलियम का 7 प्रतिशत अकेले चीन

करता है। उसने ईरान से 7,000 करोड़ डॉलर का तेल और गैस खरीदने का सौदा किया है। चीन का कुल विदेशी मुद्रा भंडार 2,300 अरब डॉलर है, जिसमें से 1,700 अरब का निवेश डॉलर परिसंपत्तियों में किया हुआ है। निश्चय ही ये तथ्य अमरीका को बेचैन करने के लिये काफी हैं।

अमरीकी नेशनल इंटेलिजेंस काउन्सिल ने कहा था कि दुनिया की अर्थव्यवस्था में उभरती ताकतें अमरीकी वर्चस्व के लिये चुनौती हैं। हालाँकि अभी यह मुख्यतः व्यापार, पूँजी निवेश, नयी तकनोलॉजी और दूसरी कम्पनियों के अधिग्रहण के इर्द-गिर्द ही है। व्यापार युद्ध को वास्तविक युद्ध बदलते देर नहीं लगती। इसी बौखलाहट में अमरीका ने चीन को घेरने की एक बहुआयामी और दीर्घकालिक योजना बनायी है, जिसमें जापान, आस्ट्रेलिया और दक्षिण कोरिया में इंटरसेप्टर मिसाइल लगाना, ताईवान को हथियारों से लैस करना और भारत के साथ रणनीतिक साझेदारी शामिल हैं। हालाँकि चीन आज भी साम्राज्यवादी शक्ति नहीं बना है, लेकिन भविष्य की गति इसी दिश की ओर संकेत करती है।

आज साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच में आपसी टकराव और उनके युद्ध आसन्न नहीं है, लेकिन इसकी सम्भावना से इंकार भी नहीं किया जा सकता। कारण यह कि एकाधिकारी पूँजी के मरणासन्न और चिरस्थायी ढाँचागत संकट के मौजूदा दौर में साम्राज्यवाद अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये मानवता को युद्ध की आग में झोंकने से भी बाज नहीं आयेगा। पहला और दूसरा विश्व युद्ध आर्थिक संकट का ही नतीजा था, जो अब पहले से भी विकट हो चुका है। विश्व युद्ध भले ही न हों, लेकिन उद्धत अमरीका का जो युद्धोन्माद इराक, अफगानिस्तान और लीबिया में दिखायी दिया, वही अब इरान और सीरिया के खिलाफ दिख रहा है। हालाँकि अमरीका की अब वैसी ही साख नहीं है जो इराक और अफगानिस्तान पर हमले के समय थी।

★★★★★

इसमें कोई संदेह नहीं कि दुनिया को तबाही की ओर ले जाने वाला विश्वव्यापी आर्थिक संकट हो, पर्यावरण विनाश का खतरा हो या युद्ध और नरसंहार से होने वाली तबाही, ये सब प्राकृतिक आपदाएँ नहीं हैं। इनके लिये दुनियाभर के शोषकों द्वारा सोच-समझ कर लागू की गयी नीतियाँ जिम्मेदार हैं। 1990 के आसपास बर्लिन की दीवार ढहने, रूसी खेमे के पतन और युगोस्लाविया के बिखराव के बाद विश्व-शक्ति-संतुलन में भारी बदलाव आया। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष और समाजवाद

की ओर से 1917 की रूसी क्रांति सम्पन्न होने के बाद से ही पूँजीवादी खेमे को मिलने वाली चुनौती, वैसे तो सोवियत संघ में खुश्चोव द्वारा तख्तापलट के बाद से ही लगातार क्षीण हो रही थी, अब रूसी साम्राज्यवादी खेमे की रही-सही चुनौती भी समाप्त हो गयी। इसके चलते पूरी दुनिया में अमरीकी चौधराहट वाले साम्राज्यवादी खेमे का पलड़ा भारी हो गया।

इस बदले हुए माहौल में विश्व पूँजीवाद को दुनिया के बाजार, कच्चे माल के स्रोत और सस्ते श्रम पर कब्जा जमाने का अनुकूल अवसर मिल गया। साथ ही आत्मनिर्भर विकास का सपना देखने वाले तीसरी दुनिया के तमाम शासकों ने भी हवा का रुख देखते हुए साम्राज्यवाद के आगे आत्मसमर्पण कर दिया। विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष की देख-रेख में 'वाशिंगटन आमसहमति' के नाम से एक नयी आर्थिक विश्व व्यवस्था का पुनर्गठन किया गया, जिसका मकसद सम्पूर्ण विश्व में पूँजी की लूट के मार्ग से सभी बाधाओं को एक-एक कर हटाना था। तटकर और व्यापार पर आम सहमति (गैट) की जगह डंकल प्रस्ताव के अनुरूप विश्व व्यापार संगठन की स्थापना की गयी, जिसने दुनिया-भर में बहुराष्ट्रीय निगमों, शेयर बाजार के निवेशकों और बैंकों की लूट का रास्ता आसान बना दिया। प्रकृति के दोहन और मानव श्रमशक्ति के शोषण की रफ्तार सारी सीमाएँ लॉघ गयी।

पूरी दुनिया पर पूँजीवाद की निर्णायक जीत और 'इतिहास के अंत' की दुंदुभि बजाते हुए दुनिया के पैमाने पर अतिरिक्त मूल्य की उगाही के लिये अमरीका की चौधराहट में आर्थिक नवउपनिवेशवादी व्यवस्था का एक मुकम्मिल ढाँचा तैयार किया गया। इस पिरामिडनुमा ढाँचे के शीर्ष पर अमरीका और उसके नीचे ग्रुप 7 के बाकी देश काबिज थे। उनके नीचे हैसियत के मुताबिक दूसरे पूँजीवादी देश और सबसे नीचे साम्राज्यवादी लूट और कर्ज-जाल में फँसकर तबाह हो चुके तीसरी दुनिया के देशों को जगह दी गयी थी। इस नये लूटतंत्र के अंदर माले गनीमत (लूट के माल) में किसे कितना हिस्सा मिलेगा, यह इस बात से तय होना था कि किस देश के पास कितनी पूँजी है और टेक्नोलॉजी का स्तर क्या है। अब संकट की घड़ी में इसकी कीमत भी अलग-अलग देशों को अपनी हैसियत के मुताबिक ही चुकानी होगी, यानी क्रमशः ऊपर के पायदानों पर खड़े साम्राज्यवादी देश कम प्रभावित होंगे और सबसे गरीब, तीसरी दुनिया के देश पहले से भी अधिक तबाही के शिकार होंगे।

साम्राज्यवादी वैश्वीकरण की इन नीतियों ने पूरी दुनिया को एकाधिकारी पूँजी संचय की एक ऐसी व्यवस्था के भीतर जकड़ दिया, जिस पर कहीं से कोई अंकुश, कोई नियंत्रण नहीं रहा। यही कारण है कि इस नयी विश्व व्यवस्था में एक तरफ जहाँ अमीरी-गरीबी के बीच की खाई बेहिसाब चौड़ी होती गयी, दुनिया-भर में अर्थव्यवस्थाएँ ठहराव और वित्तीय उथल-पुथल का शिकार हुईं, दूसरी ओर हमारी धरती भी विनाश के कगार पर पहुँचा दी गयी। लेकिन इस के बावजूद, विश्व पूँजीवाद का अन्तर्निहित संकट हल होने के बजाय और भी घनीभूत, और भी असमाधेय होता गया। कारण यह कि श्रम की लूट और पूँजी संचय जितने बड़े पैमाने पर होगा, पूँजी निवेश का संकट उतना ही विकट होता जायेगा। यह एक ऐसा दुष्चक्र है, जो पूँजीवाद के प्रारंभिक दौर, मुक्त व्यापार के जमाने से ही बना रहा है। लेकिन एकाधिकारी पूँजी के मौजूदा दौर में यह संकट इसलिए असाध्य है, क्योंकि यह अब सम्पूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था का ढाँचागत संकट बन चुका है।

प्रारम्भिक पूँजीवाद के दौर में आने वाला आवर्ती संकट और वर्तमान ढाँचागत संकट के बीच साफ-साफ फर्क है। इसे स्पष्ट रूप से समझकर ही भविष्य की सही दिशा तय की जा सकती है। क्योंकि नयी और जटिल समस्याओं का समाधान पुराने सूत्रों और समीकरणों से नहीं हो सकता। आवर्ती या मीयादी संकट जब भी आता था, तो उसका समाधान पहले से स्थापित ढाँचे के भीतर ही हो जाता था, लेकिन आज का बुनियादी संकट समूचे ढाँचे को ही संकट ग्रस्त कर देता है। यह किसी एक भौगोलिक क्षेत्र या उद्योग की किसी खास शाखा तक या किसी खास अवधि तक सीमित नहीं होता। यह सर्वग्रासी होता है, जिसकी चपेट में वित्त, वाणिज्य, कृषि, उद्योग और सभी तरह की सेवाएँ आ जाती हैं।

पुराने जमाने में उच्च स्तर कि तकनोलॉजी और उत्पादकता वाले उद्योग गलाकाटू प्रतियोगिता और मंदी की मार से बच जाते थे, लेकिन एकाधिकारी वित्तीय (सटोरिया) पूँजी के वर्तमान दौर में, सर्वग्रासी संकट की घड़ी में अब ये कारक उद्धारकर्ता की भूमिका नहीं निभा सकते। उल्टे आज तकनीकी श्रेष्ठता वाले विकसित पूँजीवादी देशों में ही संकट ज्यादा गहरा है।

दूसरे, ऐसा नहीं कि मंदी एक खास अवधि तक ही बनी रहे तथा पूँजी और उत्पादक शक्तियों की कुर्बानी लेने के बाद फिर आर्थिक गतिविधियों का ग्राफ उठने लगे, जैसा पुराने दौर में हुआ करता था। अब तो अर्थव्यवस्था मंदी में दोहरी, तिहरी

डुबकी लगाने के बाद भी उससे उबर नहीं पाती। सीमित समय के लिये चक्रीय क्रम में आने वाली मंदी अब चिरस्थायी और दीर्घकालिक चरित्र ग्रहण कर चुकी है।

तीसरे, पुराने समय में मंदी किसी एक देश या एक भौगोलिक क्षेत्र तक ही सीमित होती थी। दुनिया का बहुत बड़ा हिस्सा, जो पूँजीवादी दुनिया का अंग नहीं बना था, वहाँ भले और ढेर सारी समस्याएँ थीं, लेकिन पूँजीवादी संकट जैसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं था। पूँजी के वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में विश्व-अर्थव्यवस्था आपस में इस तरह अंतरगुम्फित है कि धरती के किसी भी कोने से शुरू होने वाला संकट धीरे-धीरे पूरी दुनिया में पाँव पसारने लगाता है। अमरीकी गृह ऋण संकट का बुलबुला फटने के बाद से अब तक की घटनाएँ इस बात की जीती-जागती मिसाल हैं।

ढाँचागत संकट पूँजीवाद का व्यवस्थागत संकट है। इसमें वित्तीय महा-संकट, दुनिया के अलग-अलग देशों और एक ही देश के भीतर अलग-अलग वर्गों के बीच बेतहाशा बढ़ती असमानता, राजनीतिक पतनशीलता और चरम भ्रष्टाचार, लोकतन्त्र का खोंखला होते जाना और राजसत्ता की निरंकुशता, सांस्कृतिक पतनशीलता, भोग-विलास, पाशविक प्रवृत्ति, अलगाव, खुदगर्जी, और व्यक्तिवाद को बढ़ावा, अतार्किकता और अन्धविश्वास का बढ़ना, सामाजिक विघटन और पहले से मौजूद टकरावों और तनावों का सतह पर आ जाना, प्रतिक्रियावादी और चरमपंथी ताकतों का हावी होते जाना तथा पर्यावरण संकट, धरती का विनाश और युद्ध की विभीषिका इत्यादि सब शामिल है। हालाँकि अपने स्वरूप, कारण और प्रभाव के मामले में इन समस्याओं की अपनी-अपनी विशिष्टता और एक-दूसरे से भिन्नता है, लेकिन ये सब एक ही जटिल जाला समूह में एक-दूसरे से गुँथी हुई हैं तथा एक दूसरे को प्रभावित और तीव्र करती हैं। इन सबके मूल में पूँजी संचय की साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था है जो दुनिया भर के सट्टेबाजों, दैत्याकार बहुराष्ट्रीय निगमों और अलग-अलग सरकारों के बीच साँठ-गाँठ और टकरावों के बीच संचालित होती है। इसका एक ही नारा है-मुनाफा, मुनाफा, हर कीमत पर मुनाफा (वैसे तो दुनिया की तबाही के लिये आर्थिक संकट, पर्यावरण संकट और युद्ध में से कोई एक ही काफी है लेकिन इन विनाशकारी तत्वों के एक साथ सक्रिय होने के कारण मानवता के आगे एक बहुत

बड़ी चुनौती मुँह बाये खड़ी हैं। कुल मिलाकर यह संकट ढाँचागत है और इसका समाधान भी ढाँचागत बदलाव में ही है।

★★★★★

इस बुनियादी बदलाव के लिये वस्तुगत परिस्थिति आज जितनी अनुकूल है, इतिहास के किसी भी दौर में नहीं रही है। इस सदी की शुरुआत में रूसी क्रांति के समय पूरी दुनिया में मजदूर वर्ग की कुल संख्या दस करोड़ से भी कम थी, जबकि आज दुनिया की लगभग आधी आबादी, तीन अरब मजदूर हैं। इनमें बड़ी संख्या उन मजदूरों की है जो शहरी हैं और संचार माध्यमों से जुड़े हुए हैं। इनके संगठित होने की परिस्थिति पहले से कहीं बेहतर है। दूसरे, वैश्वीकरण-उदारीकरण-निजीकरण की लुटेरी नीतियों और उनके दुष्परिणामों के चलते पूरी दुनिया में मेहनतकश वर्ग का असंतोष और आक्रोश लगातार बढ़ता गया है। इसकी अभिव्यक्ति दुनिया के कोने-कोने में निरंतर चलने वाले स्वतःस्फूर्त संघर्षों में हो रही है। तीसरे, आज उत्पादन शक्तियों का विकास उस स्तर पर पहुँच गया है कि पूरी मानवता की बुनियादी जरूरतें पूरी करना मुश्किल नहीं। फिर भी दुनिया की बड़ी आबादी आभाव ग्रस्त है और धरती विनाश के कगार पर पहुँच गयी है, क्योंकि बाजार की अंधी ताकतें और मुनाफे के भूखे भेड़िये उत्पादक शक्तियों के हाथ-पाँव में बेड़ियाँ डाले हुए हैं। इन्हें काट दिया जाय तो धरती स्वर्ग से भी सुन्दर हो जायेगी।

लेकिन बदलाव के लिये जरूरी शर्त- मनोगत शक्तियों की स्थिति भी क्या अनुकूल है? निश्चय ही आज दुनिया-भर में वैचारिक विभ्रम का माहौल है और परिवर्तन की ताकतें बिखरी हुई हैं। ऐसे में निराशा और आशा, व्यक्तिवाद और सामूहिकता, अकेलापन और सामाजिकता, निष्क्रियता और सक्रियता, खुदगर्जी और कुरबानी, प्रगतिशीलता और प्रतिक्रियावाद, सभी तरह की प्रवृत्तियाँ समाज में संक्रमणशील हैं। बुनियादी सामाजिक बदलाव में भरोसा रखने वाले मेहनतकशों और उनके पक्षधर बुद्धिजीवियों का यह ऐतिहासिक दायित्व है कि जमीनी स्तर पर क्रान्तिकारी सामाजिक शक्तियों को चेतनासम्पन्न और संगठित करें। वर्तमान मानव द्रोही, सर्वनाशी सामाजिक-आर्थिक ढाँचे के मलबे पर न्यायपूर्ण, समतामूलक और शोषणविहीन समाज की बुनियाद खड़ी करने की यह प्राथमिक शर्त है, जिसके बिना आज के इस चौतरफा संकट और विनाशलीला से निजात मिलना असम्भव है। □

पर्यावरण संकट पर रियो में नौटंकी

-सतीश

फिदेल कास्त्रो ने 1992 के पृथ्वी सम्मेलन में अपने भाषण में कहा था-“पर्यावरण को तबाह करने वाली जीवन शैली और उपभोग की आदतों का तीसरी दुनिया को निर्यात बंद करो। मानव जाति को और ज्यादा तर्कसंगत बनाओ। एक अधिक न्यायसंगत आर्थिक विश्व व्यवस्था अपनाओ। प्रदूषण रहित टिकाऊ विकास के लिये विज्ञान को आधार बनाओ। विदेशी कर्ज की जगह पर्यावरण का कर्ज चुकाओ, भूख को मिटाओ मानव जाति को नहीं।

स्वार्थपरता बहुत हो चुकी। दुनिया पर वर्चस्व कायम करने के मसूबे बहुत हुए। असंवेदनशीलता, गैर जिम्मेदारी और फरेब की हद हो चुकी है। जिसे हमें बहुत पहले ही करना चाहिए था, उसे करने के लिए कल बहुत देर हो जायेगी।”

पिछले 20 सालों का इतिहास बताता है कि दुनिया की सरकारों ने फिदेल की चिंताओं को गम्भीरता से नहीं लिया और तबाही के रास्ते पर आँख मूँद कर बढ़ती रहीं।

इस साल जन्म लेने वाला कोई बच्चा जब 60 साल का होगा, तब तक धरती का तापमान इतना बढ़ चुका होगा, जितना धरती पर इंसान की चहलकदमी शुरू होने के बाद से अब तक कभी नहीं रहा। अब से 60 साल पहले भी धरती वैसी नहीं थी, जैसी आज है और अनुमान है कि 1950 के बाद धरती के तापमान में 0.7 डिग्री की बढ़ोत्तरी हो चुकी है। इस सदी के अंत तक धरती का तापमान 2 डिग्री सेल्सियस तक बढ़ जायेगा। सम्भावना यही है कि हमारी धरती माँ को इससे जो नुकसान होगा, उसकी भरपाई करना असम्भव होगा। 20 से 30 फीसदी प्रजातियों के विलुप्त होने का खतरा पैदा हो जायेगा, बड़े पैमाने पर जंगल प्रभावित होंगे, बाढ़ और सूखा इस ग्रह के कई इलाकों को अपनी चपेट में ले लेंगे, रेगिस्तान का फैलाव होगा तथा ध्रुवों के हिमशिखर और हिमालय व इंडीज के ग्लेशियर बुरी तरह पिघलने लगेंगे। बहुत से द्वीप-देश समुद्र में समा जायेंगे। अफ्रीका को 3 डिग्री सेल्सियस तापमान वृद्धि का शिकार होना पड़ेगा। दुनिया का अनाज उत्पादन काफी कम हो जायेगा और दुनिया में भुखमरी के शिकार लोगों की संख्या जो आज भी भयावह स्थिति में पहुँच चुकी है, सारी सीमाएँ पार कर जायेगी।

समुद्री मछलियाँ, जो सौ करोड़ लोगों से भी ज्यादा लोगों के लिये प्रोटीन का स्रोत हैं, खत्म होती जा रही हैं। जिस गति से पौधे और जानवर विलुप्त हो रहे हैं, वैज्ञानिकों के अनुसार हम एक ऐसे दौर में प्रवेश कर रहे हैं। जिसे जीवों के इतिहास का छठा सामूहिक विलोपन (सिक्स्थ मास एक्सटिंक्शन) कहा

जा सकता है। इसी विनाश लीला की पृष्ठभूमि में पिछले 20 से 22 जून को ब्राजील की राजधानी, रियो दी जेनेरियो में टिकाऊ विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन रियो-20 नाम से एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में 190 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। रियो-20 का घोषित उद्देश्य टिकाऊ विकास के लिये की गयी राजनीतिक प्रतिबद्धता को पुनर्जीवित करना था, जिसका इजहार 20 साल पहले 1990 में, रियो में ही आयोजित पृथ्वी सम्मेलन में किया गया था।

टिकाऊ विकास के लिए 1990 में किये गये वायदों का यदि जायजा लें तो हम पाते हैं कि उन्हें पूरा करने के लिए दुनिया-भर की सरकारों ने कोई ठोस कदम नहीं उठाया। हालात पहले से बदतर ही हुए हैं, जैसे- पिछले 20 सालों के दौरान पर्यावरण में कार्बन उत्सर्जन की मात्रा 50 प्रतिशत तक बढ़ गयी है, जो धरती के तापमान में होने वाली बढ़ोत्तरी का सबसे बड़ा कारण है। दुनिया भर के नेताओं ने 20 साल पहले जिस जीवमण्डल की रक्षा का संकल्प लिया था, वह आज पहले से भी ज्यादा तबाही की हालत में है।

20 साल बाद इस बारे में रियो-20 सम्मेलन में जो दस्तावेज जारी किया गया है, उसमें भी कोई उम्मीद नहीं दिखायी दे रही है। हद तो यह है कि 190 देशों की सरकारों ने पिछले 20 साल विश्व पर्यावरण संकट को ‘पहचानने’ में और यह तय करने में खर्च हो गया कि पर्यावरण संकट “गंभीर चिंता” का विषय है। विश्लेषकों की नजर में यह निर्णायक दस्तावेज, जिसमें 283 पैराग्राफ हैं, केवल दुनिया की जनता को झॉसा देने वाला है। इस दस्तावेज का कुल निचोड़ यह है कि 190 देशों के प्रतिनिधियों ने दुनिया और दुनिया की जनता को बचाने की जिम्मेदारी से मुँह मोड़ लिया है।

ब्रिटिश पत्रकार जॉर्ज मोनबायट ने अतीत के कई सारे पर्यावरण सम्मलेनों की असफलता की चर्चा करते हुए कहा है कि “इन सम्मेलनों की असफलता के कारण वही हैं, जिन कारणों से पश्चिमी देशों के कई सारे बैंक असफल हुए। जिन राजनीतिक व्यवस्थाओं से यह उम्मीद की जाती है कि वे सभी लोगों का प्रतिनिधित्व करेंगी, आजकल ऐसे करोड़पति नेताओं द्वारा संचालित हो रही हैं, जिन्हें अरबपति आर्थिक सहायता देते हैं और ये नेता उन्हीं अरबपतियों के इशारे पर नाचते हैं। जो कायदे कानून एक आदमी द्वारा दूसरे आदमी को बर्बाद किये जाने से रोकते थे, उन्हें सरकारों ने बहुराष्ट्रीय निगमों और चरम धनिकों के स्वार्थों की पूर्ति के लिये खत्म कर दिया है। मुठ्ठीभर धनिकों से पैसा पाने वाले और इन्हीं धनिकों द्वारा नियुक्त सरकारों से यह उम्मीद करना कि वे हमारी धरती और जीवमंडल की रक्षा करेंगे और गरीबों को बचायेंगे, ठीक वैसा ही है। जैसे- शेर से यह उम्मीद करना कि वह मांस खाना छोड़कर घास पात पर गुजारा करेगा।”

रियो में इकट्ठा हुए दुनिया भर के नेताओं को धरती की रक्षा से कुछ भी लेना-देना नहीं है। वे ऐसा जुगाड़ करने की कोशिश कर रहे हैं कि बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों की लूट खसोट में कोई बाधा न आये। ये नेता “हरित अर्थव्यवस्था” जैसे समाधान पेश कर रहे हैं, जिसका असली मकसद निजीकरण करके प्रकृति को मुनाफाखोर कम्पनियों के हवाले कर देना है। हरित अर्थव्यवस्था की यह नयी अवधारणा व्यापार का एक अनोखा तौर-तरीका है जिससे वॉलस्ट्रीट बेहिसाब मुनाफा बटोरने में कामयाब होगा। यही कारण है कि खेतिहर मजदूरों, देशी समुदायों, कर्ज-विरोधी कार्यकर्ताओं और जमीन से जुड़े कई सारे समूहों ने “हरित अर्थव्यवस्था” की अवधारणा को कॉरपोरेट की “हरित लूटपाट” कहकर नकार दिया है। रियो द जेनेरियो में जहाँ सम्मेलन हो रहा था, वहाँ हजारों लोगों ने प्रदर्शन किया तथा आर्थिक न्याय और जलवायु परिवर्तन पर ठोस कार्यवाही की माँग की। इस प्रदर्शन में ब्राजील की विभिन्न मजदूर यूनियनों ने भी भाग लिया। बैंक के कर्मचारियों ने वित्तीय लेनदेन पर ‘रोबिन्हुड कर’ लगाने की माँग की। अर्जेंटीना की ट्रेड यूनियनों ने प्रदर्शनकर्ताओं को एकता का सन्देश भेजा। प्रदर्शन में ब्राजील के अग्निशामक कार्यकर्ताओं, तकनीशियनों और विश्वविद्यालयियों के शिक्षकों ने भी भाग लिया। भूमिहीन मजदूरों ने भी इसमें बढ़चढ़कर हिस्सा लिया, जिनका नारा था “हरित पूँजीवाद समाधान नहीं एक धोखा है”। इस प्रदर्शन में पर्यावरण की रक्षा को लेकर

चिंतित लोगों और पर्यावरण विनाश के लिये जिम्मेदार, मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ लड़ने वाले लोगों को एकजुट होने का आह्वान भी किया गया।

ऐसी व्यवस्था जो प्रकृति के कण-कण को माल बना देने पर उतारू है, उसके कर्ताधर्ताओं का प्रकृति के प्रति नजरिया वही है जो वह दूसरे तमाम मालों के साथ अपनाते हैं। इसलिए जो लोग वास्तव में एक बेहतर दुनिया का सपना देखते हैं, उन्हें प्रकृति के प्रति खुदगर्ज नजरिया रखने वालों के खिलाफ निर्णायक लड़ाई लड़नी होगी। हमें सामाजिक, आर्थिक और पारिस्थितिक मुद्दों को एकसाथ जोड़कर, अलग-अलग मोर्चों पर लड़ रहे लोगों को एकजुट करना होगा।

सामाजिक मुक्ति, मानव स्वतंत्रता और पर्यावरण की रक्षा के लिये लड़ रहे लोगों को यह पहचानना होगा कि इस पतनशील पूँजीवाद का एक ही मतलब है पर्यावरण और मानवता का विनाश। इसलिए हमें एक ऐसी व्यवस्था बनानी होगी जिसका आधार आपसी मेलजोल, सच्चा लोकतंत्र और मानव जाति के हक में दीर्घकालीन योजना हो। एक ऐसे समाज की नींव रखी जाय जहाँ चीजों का उत्पादन मुनाफे के लिये नहीं, बल्कि लोगों की आवश्यकताओं के लिए किया जाये। ऐसी व्यवस्था में ही मानव और प्रकृति के बीच सही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। रियो-20 जैसे दिखावटी जलसों से कुछ भी होने वाला नहीं है। □

प्रकृति पर अपनी इन्सानी जीत को लेकर हमें बहुत ज्यादा डींग नहीं हॉकनी चाहिए, क्योंकि ऐसी हरेक जीत के बदले प्रकृति हमसे बदला लेती है। यह सही है कि हरेक जीत से पहले-पहल वे ही नतीजे हासिल होते हैं जिनकी हमें उम्मीद थी, लेकिन दूसरी-तीसरी मंजिल में उससे बिलकुल अलग किस्म के अनदेखे नतीजे सामने आते हैं जो अकसर पहले वाले नतीजों को बेअसर कर देते हैं। ... हम प्रकृति पर विदेशी हमलावरों की तरह हकूमत बिलकुल नहीं करते जैसे कि हम प्रकृति से बाहर के लोग हों बल्कि अपने खून, माँस और दिमाग के साथ हम प्रकृति का अपना हिस्सा हैं, हम उसके भीतर ही मौजूद हैं और इसके ऊपर हमारी सारी हकूमत इस बात में शामिल है कि दूसरे सभी जानवरों से हम इस मायने में बेहतर हालत में हैं कि हम प्रकृति के नियमों को सीख सकते हैं और उन्हें सही ढंग से लागू कर सकते हैं।

-फ्रेडरिक एंगेल्स,

वानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका

संसाधनों का हास और पर्यावरण विनाश : एक विनम्र प्रस्ताव

-फ्रेड मैगडॉफ

(इस टिप्पणी में फ्रेड ने बड़े ही सरल और रोचक ढंग से यह बताया है कि दुनिया के मुड़ीभर सबसे धनी लोग ही संसाधनों का सबसे ज्यादा उपभोग करते हैं और वे ही पर्यावरण और धरती के विनाश के लिए जिम्मेदार हैं, जबकि उल्टे वे ही गरीबों की जनसंख्या को इसके लिए दोषी ठहराते हुए एनजीओ के जरिये परिवार नियोजन कार्यक्रम चलवाते हैं। फ्रेड का सुझाव है कि गरीब जनता बहुत कम संसाधन खर्च करती है, इसलिए गरीबों की नहीं, बल्कि धनाढ्यों की जनसंख्या और दौलत पर रोक लगाकर ही धरती को बचाया जा सकता है। फ्रेड मैगडॉफ पारिस्थितिकी और अर्थशास्त्र के जाने-माने प्रोफेसर और प्रतिष्ठित लेखक हैं।)

धनी देशों में ढेर सारे लोग यह मानते हैं कि इस धरती पर जितने संसाधन उपलब्ध हैं, उनमें लगातार कमी होना और दुनिया भर में बढ़ते पर्यावरण प्रदूषण की मुख्य वजह आज भी दुनिया के निवासियों की विराट संख्या है जो सात अरब से भी ज्यादा है। यह स्थिति और भी खराब होगी, क्योंकि विश्व-जनसंख्या इस सदी के मध्य तक 9 अरब और सदी के अंत तक 10 अरब हो जाने की संभावना है।

इसका समाधान यह सुझाया जा रहा है (वैसे कुछ लोगों का कहना है कि वास्तव में कोई समाधान है नहीं- हम सब के भाग्य में उथल-पुथल और बर्बरता लिखी है) कि विश्व जनसंख्या को तेजी से घटाया जाय, खासकर ऐसे कार्यक्रमों के जरिये जो जन्मदर में कमी लाने को प्रेरित करें। इसी का नतीजा है गरीब देशों में गर्भ-निरोधकों के इस्तेमाल को प्रोत्साहित करने के लिए धनी देशों के एनजीओ द्वारा वित्तपोषित कार्यक्रम जो महिलाओं के लिये गर्भ-निरोधक और परिवार नियोजन के उपाय मुहैया करते हैं।

इस मुद्दे पर वे लोग जो रुख अपना रहे हैं उसकी पड़ताल हम कभी बाद में करेंगे। यहाँ हम उनके इस दावे को पूरी तरह सही मानकर चलेंगे कि दुनिया की जनसंख्या का अत्यधिक होना ही संसाधनों के इस्तेमाल और वैश्विक पर्यावरण की क्षति को बुरी तरह प्रभावित कर रही है।

विश्व बैंक के कर्मचारियों ने विश्व विकास सूचक- 2008 में यह आकलन प्रस्तुत किया है कि दुनिया की 10 फीसदी सबसे धनी आबादी लगभग 60 फीसदी संसाधनों का इस्तेमाल करती है और 40 फीसदी सबसे गरीब आबादी इन संसाधनों का 5 फीसदी से भी कम इस्तेमाल करती है। संसाधनों के इस्तेमाल और जनसंख्या के बीच इस आपसी सम्बन्ध को देखने से यह जाहिर होता है कि सबसे धनी 10 फीसदी लोग ही 60 फीसदी वैश्विक प्रदूषण, यानी ग्लोबल वार्मिंग, जल प्रदूषण, इत्यादि के लिए जिम्मेदार हैं।

अब विचारधारा को थोड़ी देर के लिए दरकिनार कर दें। अगर आप वैश्विक संसाधनों के इस्तेमाल और पर्यावरण विनाश के मामले को लेकर उतने ही चिंतित हैं जितना मैं और कई अन्य लोग, तो ये आँकड़े ऐसे नतीजे की ओर ले जाते हैं जिनसे कोई आँख नहीं चुरा सकता। गरीब परिवारों की जनसंख्या घटाने का प्रयास इस मामले को हल करने में बिलकुल मदद नहीं करेगा, क्योंकि संसाधनों और पर्यावरण से जुड़ी जिन समस्याओं का हम सामना कर रहे हैं उसके असली गुनाहगार दुनिया के लखपति-करोड़पति हैं।

इस सच्चाई के मद्देनजर हमारा यह विनम्र सुझाव है कि दुनिया के सबसे धनी 10 फीसदी लोग अपनी जरूरतों में कटौती करें। हमारे ग्रह की पारिस्थितिकी और विश्व जनगण के लिए यह कदम बेहद जरूरी है। इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि निम्नलिखित कार्यक्रमों को फौरन लागू किया जाय-

(क) लखपतियों-करोड़पतियों के लिए “कोई बच्चा नहीं” या “केवल एक बच्चा” की नीति का पालन;

(ख) पैतृक संपत्ति पर 100 फीसदी टैक्स तत्काल लागू करना, (यानी सम्पत्ति का उत्तराधिकार खत्म);

(ग) और न्यूनतम आय-सीमा (न्यूनतम मजदूरी की तरह) लागू करके लखपतियों-करोड़पतियों की आय को घटाना।

इन निर्देशों का पालन करते हुए हम जल्द ही दुनिया भर में संसाधनों के इस्तेमाल और प्रदूषण को घटाकर आधा कर सकते हैं। तब लखपति-करोड़पति या तो दुनिया से गायब हो जायेंगे (मर-खप जायेंगे) या ऐसी जिन्दगी जीयेंगे, जिसमें उनका उपभोग भी आम जनता की तरह ही सामान्य हो जायेगा।

जब हम अपनी धरती पर भारी दबाव को घटा चुके होंगे, तभी हम उन मुद्दों को हाथ में लेंगे, जिनको हल करते हुए हम अपने इस ग्रह को रहने लायक और अपने समाज को न्यायपूर्ण बनायेंगे। □

विश्वव्यापी मन्दी : पूँजीवादी व्यवस्था का ढाँचागत संकट

-विक्रम

जी-20 की सातवीं बैठक (जून 2012) मन्दी का कोई समाधान निकाले बगैर ही समाप्त हो गयी। वैश्विक मन्दी की चपेट में आये विकसित देशों को उबारने के लिए जो कोष बनाया गया है, उसमें प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने भारत की ओर से 10 अरब डॉलर देने का एलान किया। अपने देश में मजदूरों, किसानों के प्रति वे शायद ही कभी ऐसी दरियादिली दिखाते हों। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने जी-20 देशों के सहयोग से 380 अरब डॉलर का जो कोष बनाया है वह इस मन्दी की विकरालता को देखते हुए ऊँट के मुँह में जीरा ही है। इसके बूते यूरोपीय देशों की डूबती नैया पार लगाना मुमकिन नहीं है। यूरोपीय मन्दी कितनी विकराल है, इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि यूनान के 110 लाख में से 10 लाख से ज्यादा लोग बेरोजगार हैं। 18 से 24 साल के 10 नौजवानों में से 7 नौजवान देश छोड़ना चाहते हैं। मध्यम वर्ग और छोटे व्यापारी तबाही की कगार पर पहुँच चुके हैं। मुख्य राजनीतिक पार्टियाँ यूनानी जनता का विश्वास खो चुकी हैं। सरकारी खर्च में कटौती से देश का आर्थिक जीवन तबाह हो गया है। यूनान अपने विदेशी कर्ज को चुकाने में अक्षम हो चुका है। स्पेन, आयरलैण्ड और अन्य यूरोपीय देशों की हालत भी यूनान से बेहतर नहीं है। इंग्लैण्ड और फ्रांस जैसे समृद्ध देशों की स्थिति भी डाँवाडोल है। इन बर्बाद होते देशों में कोई भी पूँजी निवेश के लिये राजी नहीं है। मन्दी ने निवेश के लिए अनुकूल माहौल के नाम पर बरगलाये गये निजी पूँजी निवेशकों की आँखें खोल दी हैं। यूनान के चुनाव ने राजनीतिक संकट को सतह पर ला दिया और अब तो यूरोपीय संघ में उस की सदस्यता जारी रखने पर भी सवाल उठने लगे हैं।

विश्व बैंक के एक अध्ययन में बताया गया है कि 2012-13 की मन्दी, चार साल पहले वाली अमरीकी मन्दी से कई गुना बड़ी होगी, जिसकी चपेट में आकर न केवल लेहमन ब्रदर्स जैसे बड़े-बड़े बैंकों का, बल्कि कई देशों की पूरी अर्थव्यवस्था का भविष्य दाव पर लग जाना तय है। कर्ज संकट पर सट्टा लगाकर कमाई करने वाले वित्तीय उपकरण- क्रेडिट डिफाल्ट स्वेप (सीडीएस) की बिक्री वहाँ काफी बढ़ गयी है। जुलाई 2011 से

जनवरी 2012 के 5 महीने के बीच ही विकसित देशों के बाजारों को 8.5 प्रतिशत सम्पत्ति का नुकसान हुआ और इस बीच शेयर बाजार में 4.2 प्रतिशत की गिरावट आने से दुनिया की 9.5 प्रतिशत सम्पदा, यानी 6.5 खरब डॉलर डूब गया।

इस साल यूरोप के सम्प्रभु कर्ज संकट की बीमारी विकसित देशों की सीमाएँ लाँघ कर उभरते हुए विकासशील देशों को भी अपना शिकार बनाने लगी। सभी सूचक भारत की अर्थव्यवस्था के मन्दी की ओर अग्रसर होने का संकेत दे रहे हैं। इस साल अप्रैल में उत्पादन वृद्धि दर 0.1 प्रतिशत रही। जबकि पिछले साल अप्रैल में 5.7 प्रतिशत थी। बेरोजगारी तेजी से बढ़ रही है। खाद्य सामग्री से इतर सामानों की बिक्री तेजी से घटी है। टाटा मोटर्स, वोल्क्स बैगन जैसी वाहन कम्पनियों के उत्पादन लगभग ठप्प पड़ गये हैं। इसमें काम करने वाले कर्मचारियों की तनख्वाह आधी कर दी गयी है। हाल ही में भारतीय विमानन कम्पनी में काम करने वाले पायलट हड़ताल पर चले गये। यह कम्पनी लगभग दिवालिया होने की कगार पर है। पूँजीपतियों, सटोरियों और व्यवस्था पोषक बुद्धिजीवियों में निराशा व्याप्त है। मध्यम वर्ग की स्थिति बिगड़ रही है। स्टैण्डर्ड एण्ड पुअर रेटिंग एजेन्सी ने भारत की ग्रेडिंग घटा दी। इसका मकसद भारत सरकार पर दबाव डालकर उससे विदेशी पूँजी के हित में फैसले पारित करवाना है, जैसे- मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करना, तेल के दामों में वृद्धि को खुली छूट, घरेलू विमान कम्पनी में विदेशी निवेश की इजाजत, मल्टी ब्रॉड खुदरा व्यापार में विदेशी निवेश की छूट और अगले चरण के आर्थिक सुधार शुरू करना। इन सबके पीछे अमरीकी मंशा किसी छिपी नहीं है। अमरीका चाहता है कि जिस तरह नाभिकीय समझौते पर भारत सरकार ने अमरीका के आगे घुटने टेक दिये थे, उसी तरह वह इन फैसलों को भी चुपचाप मान ले। लेकिन मल्टी ब्रान्ड खुदरा व्यापार में विदेशी निवेश और बढ़ती महँगाई के खिलाफ देशव्यापी विरोध को देखते हुए कांग्रेसी गठबंधन सरकार फूँक-फूँक कर कदम रख रही है इस मामले में पूँजीपतियों की संस्था एसोचैम भी सरकार के साथ है। महँगाई, भ्रष्टाचार और देश की आर्थिक बर्बादी के कारण चारों तरफ

से घिर चुकी कांग्रेस सरकार के लिये आर्थिक सुधारों के अगले चरण की शुरुआत करना आत्मघाती होगा। सरकार के इस टालू रवैये से नाराज और देश की आर्थिक साख गिरते देख विदेशी निवेशक शेयर बाजार से पैसे निकाल कर चम्पत हो रहे हैं। इसके कारण डॉलर की माँग बढ़ने से रुपये का भारी अवमूल्यन हुआ और डॉलर की कीमत 59 रुपये तक पहुँच गयी। रुपये की कीमत गिरने से निर्यात बढ़ने की सम्भावना थी, लेकिन विकसित देशों के खुद ही संकटग्रस्त होने के चलते निर्यात में उम्मीद के मुताबिक बढ़ोत्तरी नहीं हुई।

यह सर्वविदित है कि जिस आर्थिक मन्दी ने आज पूरी दुनिया को हिला दिया है, इसकी शुरुआत 2008 में लेहमन ब्रदर्स, फ्रेडीमैक और फेनीमेई जैसे अमरीका के बड़े बैंको के डूबने से हुई थी। ये सभी संस्थाएँ मकान पर लिये गये बंधक पत्रों की सट्टेबाजी में लिप्त थीं। अमरीका अभी संकट से उबर भी नहीं पाया था कि 2010 में यूरोपीय देश एक-एक करके सम्प्रभु कर्ज संकट के जाल में फँसते चले गये। 2011 में अमरीका अपने इतिहास के सबसे बड़े कर्ज संकट के जाल में फँस गया, जिससे उबर पाना नामुमकिन सा लगने लगा। उसका विदेशी कर्ज बढ़ते-बढ़ते 15 हजार अरब डॉलर की सीमा पार कर गया। नतीजा यह कि भारत, चीन और ब्राजील जैसे उभरते देशों की अर्थव्यवस्थाएँ भी डगमगाने लगीं जो पहले संकट से अछूती और तेजी से विकास करने वाली समझी जाती थी। सन् 2012 में इन्हें भी मन्दी की छूट लग गयी।

तमाम संदेहों और अनुमानों को झुठलाते हुए यह बात दिन के उजाले की तरह साफ हो गयी कि पूरी दुनिया में आर्थिक संकट का जो घटाटोप छा रहा है, वह पूँजीवादी व्यवस्था की संरचनागत संकट है, यह एक असाध्य संकट है जिसका समाधान इस व्यवस्था के बने रहते संभव नहीं है। इस पूँजीवादी व्यवस्था की बुनियाद में ही गड़बड़ी है जो एक के बाद एक आर्थिक संकटों को जन्म देती रहती है। मजदूरों के शोषण और पर्यावरण के विनाश पर टिकी यह व्यवस्था अन्यायपूर्ण और विनाशकारी तो है ही, यह आर्थिक रूप से भी पूरी तरह बेकार और वाहियात है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली और इसमें अन्तर्निहित आर्थिक मन्दी को समझने के लिए इसके इतिहास पर एक सरसरी नजर डालना जरूरी है। 150 साल पहले मुक्त प्रतियोगिता के दौर में भी आर्थिक मन्दी आती थी, लेकिन उसका स्वरूप कई मामलों में वर्तमान दौर की मंदी से भिन्न

था छोटी-छोटी फैक्ट्रियों से उत्पादित मालों की मात्रा जब खरीददारों की औकात से अधिक होने लगती थी तो गोदाम माल से पट जाते थे, दुकानों में समान भरे रहते थे, जबकि खरीददार मायूस लौट जाते थे, क्योंकि उनके पास खरीदने की क्षमता ही नहीं होती थी। ऐसी स्थिति में उत्पादन जारी रखने का कोई औचित्य नहीं रह जाता था, फैक्ट्रियों में ताले लटकने लगते थे, उद्योगों की सभी शाखाओं में यह महामारी फैल जाती थी। बड़े पैमाने पर छँटनी शुरू हो जाती थी, जिससे लोगों की क्रयशक्ति और भी गिर जाती थी। इससे माँग और भी सिकुड़ जाती थी। माँग में कमी और आपूर्ति कहीं अधिक होने से समानों के दाम गिरने लगते थे। यहाँ तक कि कीमतें उत्पादन लागत से भी नीचे चली जाती थी। कई फैक्ट्रियाँ मन्दी के दौरान तबाह हो जाती थीं। यह सिलसिला हर 8 से 10 साल पर चलता रहता था। मन्दी के बाद बर्बादी से बच जाने वाली कुछ कम्पनियाँ अपनी तकनीक को उन्नत करके और उत्पाद के दाम गिराकर पहले से भी अधिक मजबूती के साथ उभरती थीं। अब उद्योग की किसी एक शाखा में इन कम्पनियों की संख्या तो कम रह जाती थी, लेकिन कच्चे माल के विशाल स्रोत और बड़े बाजार पर इनका कब्जा होता था। इस तरह इन गिनी-चुनी कम्पनियों की ताकत पहले की तुलना में बहुत अधिक बढ़ जाती थी।

मन्दी का हर नया चक्र उत्पादन के केन्द्रीकरण को बढ़ाता जाता था। इसके अलावा एकाधिकार प्राप्त चंद बड़ी कम्पनियाँ अपनी बड़ी पूँजी के बल पर और भी नये-नये बाजार हथियाती जाती थी। उद्योग की एक शाखा में काम करने वाली कुछ विराट कम्पनियाँ अब एक दूसरे की विनाश की कीमत पर ही प्रतियोगिता में उतर सकती थीं। आत्मघाती प्रतियोगिता से बचने के लिए ये आपस में कार्टेल, सिन्डिकेट और ट्रस्ट बनाकर कई तरह के गठजोड़ करने लगीं। अब इनके बीच मुद्रा-युद्ध न होकर मुद्रा-समझौता प्रधान हो गया। अब वे सामानों के दाम गिराती नहीं, बल्कि आपसी साँठ-गाँठ से मालों के दाम एक साथ बढ़ा देती हैं। पहले मालों की कीमत गिरने से उपभोक्ता लाभान्वित होता था जबकि अब वह इससे वंचित रह जाता है। मन्दी के बावजूद कीमतें कम नहीं होतीं। इसे ही अर्थशास्त्री ठहराव युक्त मुद्रास्फीति (स्टैगफ्लेशन) कहते हैं। महँगाई के कारण लोग अपनी बैल्ट टाइट करते जाते हैं, फिर भी कम्पनियों के मुनाफे में लगातार बढ़ोत्तरी होती रहती है। इस तरह मुक्त प्रतियोगिता के दौर के विपरीत एकाधिकारी पूँजीवाद के दौर

में पूँजीपति वर्ग आपसी साँठ-गाँठ करके मेहनतकश वर्ग को बेहिसाब लूटते हैं। वे की क्रय-शक्ति और माँग बढ़ाये बिना कीमतों को बढ़ाते रहते हैं। पूँजी अपने विस्तार के जितने भी उपाय करती है, उसका संकट और भी विकट होता जाता है, कारण यह कि पूँजीवाद का चिरन्तन संकट पूँजी निवेश और पूँजी संचय का संकट है। जितना ज्यादा और बड़े पैमाने पर पूँजी निवेश होता है उतना ही विराट पूँजी संचय और उसके दुबारा निवेश का संकट आ खड़ा होता है।

एकाधिकारी पूँजी, ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी और संकट

ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियों को निगम, कॉरपोरेट या लिमिटेड कम्पनी के नाम से भी जाना जाता है। इन कम्पनियों के मालिकाने में कई व्यक्तियों की साझेदारी होती है। कम्पनी में किसका मालिकाना कितना है, यह उनके द्वारा अधिग्रहित शेयरों की कीमत पर निर्भर करता है। कम्पनी की सालाना बैठकों में चुने गये 'बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स' कम्पनी के काम-काज को संचालित करता है जिसके चुनाव में कम्पनी के शेयर धारक अपनी हैसियत के आधार पर भाग लेते हैं। उदाहरण के लिए कम्पनी के 20 प्रतिशत शेयर धारक को 20 प्रतिशत वोट का अधिकार होता है। कम्पनी का मुनाफा और नुकसान भी इसी अनुपात में शेयर धारकों में बँटता है। शेयर धारकों को अधिकतम मुनाफा दिलाना ही बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की सर्वोच्च प्राथमिकता होती है। इसके लिए वह पैसे के बल पर शासन-प्रशासन और मीडिया के ऊपर अपनी पकड़ मजबूत रखता है। जनता द्वारा चुने गये नेता इन निगमों की चाकरी करते हैं। सरकार से साँठ-गाँठ करके इनके पब्लिक रिलेशन ऑफिसर अपने मन माफिक कानून पास करवाते हैं। हू-ब-हू तो नहीं लेकिन, कुछ हद तक हमारे देश को गुलाम बनाने वाली ईस्ट इंडिया कम्पनी भी एक ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी ही थी, जिसने हमारे देशी लघु उद्योगों को तबाह करके पूरे देश की आर्थिक गतिविधियों पर कब्जा जमा लिया था। प्रतियोगिता से बचने के लिए स्थानीय उद्योगों को उजाड़ देना इनका मुख्य हथकण्डा होता है।

1990 के बाद जब उदारीकरण-निजीकरण की हवा चली, तो सैकड़ों ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियों ने हमारे देश के शासक वर्ग से साँठ-गाँठ करके भारत के घरेलू बाजार पर कब्जा जमा लिया। सरकार से मनमाफिक नीतियाँ पारित करवाकर, उच्च तकनीक और सस्ते मालों के जरिये इन्होंने देश के लाखों उद्योगों को तबाह कर दिया, जिससे करोड़ों देशवासी बेरोजगार

हो गये। आज शायद ही कोई बड़ी कम्पनी हो जिसे पूरी तरह स्वदेशी कहा जा सके। विदेशी पूँजी ने शेयर बाजार के जरिये सभी कम्पनियों में अपनी पैठ बना ली है।

दुनिया पर दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का वर्चस्व

मानव सभ्यता के सम्पूर्ण इतिहास में पहली बार दुनिया की विशाल सम्पदा कुछ गिनी-चुनी दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कब्जे में है। अमीरी-गरीबी की खाई पहले कभी इतनी चौड़ी और गहरी नहीं थी। पिछले 20 सालों से जारी वैश्वीकरण की नीतियों ने इन कम्पनियों को जबरदस्त फायदा पहुँचाकर आर्थिक गैरबराबरी को विकट बना दिया है। ऐसी 200 विशाल बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का दुनिया की आर्थिक गतिविधियों के एक चौथाई से भी अधिक हिस्से पर कब्जा है। वैश्विक आय के 60 प्रतिशत पर मात्र 1318 कम्पनियों का कब्जा है। भारत के 8200 सबसे अमीर परिवार देश की 70 प्रतिशत सम्पदा पर अपना नियन्त्रण रखते हैं, जबकि देश में 80 करोड़ से ज्यादा लोग 20 रुपये से भी कम पर गुजारा करते हैं। इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में कुछ की अर्थव्यवस्था तो कई देशों से भी बड़ी है, जैसे- जर्मन मोटर कम्पनी डेनमार्क और फोर्ड कम्पनी दक्षिण अफ्रीका की अर्थव्यवस्था से भी बड़ी है। ये कम्पनियाँ टूथ ब्रस से लेकर हवाई जहाज तक, जिन्दगी में इस्तेमाल के सभी सामान बनाती हैं।

पुराने समय में राजाओं की तानाशाही की जगह आज दुनिया पर इन दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की तानाशाही कायम है। यही कम्पनियाँ अपनी मददगार सरकारों के साथ पूरी दुनिया पर राज कर रही हैं। ये कम्पनियाँ आपस में गठजोड़ करके, छोटी कम्पनियों को उजाड़ कर, उग्र विज्ञापनों के जरिये और उच्च तकनीकी कुशलता द्वारा दुनिया के विशाल बाजार पर कब्जा जमाती हैं। साथ ही, ये सरकारों से साँठ-गाँठ करके अपने फायदे की नीतियाँ बनवाती हैं और उस देश की जनता का निर्गम शोषण करती हैं। दुनिया-भर में बदनाम खनन कम्पनी पॉस्को और वेदान्ता द्वारा भारत में खनिज सम्पदा के दोहन का अधिकार देने के लिए स्थानीय जनता के विरोध का निर्मम दमन इसका ताजा उदाहरण है। ये कम्पनियाँ पर्यावरण और स्थानीय जनता की रोजी-रोटी का विनाश करके भारी दौलत बटोरती है। यही नहीं बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपनी वास्तविक कमाई से कहीं ज्यादा मुनाफा शेयर बाजार के जरिये बटोरती हैं। सट्टेबाजी से संचित यह विराट पूँजी भी संकट को बढ़ाने में ही सहायक है।

शेयर बाजार : जुआरी पूँजी का वर्चस्व और संकट

शेयर बाजार आज दुनिया का सबसे चंचल, अस्थिर और तेजी से फैलता बाजार है। सिद्धान्ततः कम्पनियाँ अपना शेयर इसलिए बेचती हैं कि उससे प्राप्त धन का इस्तेमाल अपने कारोबार को चलाने और बढ़ाने में कर सकें। इसके बदले कम्पनी शेयर खरीददार को अंश लाभ देने का वादा करती है। इस तरह माना जाता है कि शेयर धारक कम्पनी की इमारत, मशीन और मुनाफे का हिस्सेदार है। लेकिन छोटे शेयर धारकों के लिये यह एक छलावा मात्र है। कई मामलों में कम्पनी न तो जारी किये गये शेयरों को दुबारा खरीदती है और न ही धारक को सीधे अंश लाभ देती है। फिर शेयर धारक को इससे क्या फायदा होता है।

वास्तव में शेयर बाजार के दो हिस्से होते हैं प्राथमिक शेयर बाजार और द्वितीयक शेयर बाजार। कम्पनी शुरू में अपना शेयर प्राथमिक बाजार में उतारती है और जरूरत पड़ने पर इन शेयरों को खरीद सकती है। कम्पनी के घाटे या मुनाफे के हिसाब से शेयर के दाम घटते-बढ़ते रहते हैं। शेयर धारक प्राथमिक बाजार के माध्यम से ही सीधे कम्पनी से जुड़ता है। इस बाजार की अर्थव्यवस्था काफी हद तक उत्पादन से जुड़ी होती है और परजीविता इसमें कम होती है। द्वितीयक बाजार में किसी शेयर धारक से ही खरीद होती है। ग्राहक इस उम्मीद में शेयर खरीदता है कि इसका दाम ऊँचा होने पर तीसरे को बेचकर मुनाफा कमा लेगा। इस तरह द्वितीयक बाजार कम्पनी और उत्पादन से कटा होता है लेकिन जैसे ही उत्पादन में ठहराव आता है और कम्पनी का मुनाफा गिरने लगता है, प्राथमिक बाजार में खलबली मच जाती है। इसके चलते द्वितीयक बाजार में भूचाल आ जाता है। लोग जल्दी से जल्दी बर्बाद कम्पनी के शेयरों से छुटकारा पाना चाहते हैं। जब अचानक ढेर सारे लोग शेयर बेचने आ जाते हैं तो उन शेयरों के दाम गिर जाते हैं। इसलिए द्वितीयक बाजार के कारोबार में सट्टेबाजी प्रभावी होने के बावजूद वह असली अर्थव्यवस्था की बुनियाद पर ही टिका होता है।

समस्या यहीं तक सीमित नहीं। शेयर बाजार दो कारणों से धरती का सबसे अनिश्चित और अस्थिर बाजार है। पहला यह है कि कम्पनी कभी एक साथ अपना सारा शेयर जारी नहीं करती और दूसरा शेयर बाजार का कारोबार अधिक जटिल वित्तीय उपकरणों जैसे- फ्यूचर्स, आपसन्स, स्विप इत्यादि के जरिये होने लगता है। शुरू में कम दाम पर कुछ शेयर जारी करके कम्पनी बड़ी मात्रा में बाकी शेयर अपने ही पास रखती है। जब बाजार में सब कुछ ठीक चल रहा होता है और शेयर के दाम तेजी से बढ़ रहे होते हैं, तो कम्पनी अपने दलालों के

जरिये अचानक अपने बाकी शेयर धीरे-धीरे बाजार में उतारती है और बड़े दामों पर उन्हें बेचकर अकूत मुनाफा कमाती है। जब कीमत काफी बढ़ जाती है तो ढेर सारे शेयर धारक उसे बेचकर कमाई करने के लिये बाजार में उतरते हैं। इस तरह अचानक शेयरों की बाढ़ आ जाने से उसके दाम तेजी से लुढ़क जाते हैं और शेयर धारक बर्बादी की कगार पर पहुँच जाते हैं। शेयर बाजार के जटिल नियमों से अनभिज्ञ नये और छोटे खिलाड़ी पिट जाते हैं, जबकि बड़े खिलाड़ी रातों-रात करोड़पति से अरबपति बन जाते हैं, क्योंकि एक तो वे बाजार के नियमों से परिचित होते हैं और दूसरे उनके पास चूँकि बड़ी मात्रा में शेयर होते हैं इसलिए वे शेयर के दाम कभी भी चढ़ा या गिरा सकते हैं। लेकिन खेल इतना सीधा होता तो शायद इतने लम्बे समय तक न चलता और शीघ्र ही बड़ी संख्या में बर्बाद होने वाले छोटे निवेशक शेयर बाजार से अपना नाता तोड़ लेते और समाज शेयर बाजार की जुएबाजी से सावधान हो जाता। फिर तो कम्पनियों के शेयर बिकने बन्द हो जाते, सट्टेबाजी की अर्थव्यवस्था डूब जाती और शेयर बाजार में ताला लग जाता। लेकिन ऐसा नहीं होता। कम्पनियाँ लम्बे समय तक अपने शेयर धारकों को नाराज नहीं कर सकतीं, क्योंकि ऐसी कम्पनी की शाख खत्म हो जाती है। इसके बजाय वे अपने उत्पादों, जैसे- जूते, टीवी, कूलर आदि के दाम बढ़ा देती हैं, जिससे उनका मुनाफा उत्पादन लागत से कई गुना बढ़ जाता है। बाजार में अपने वर्चस्व के कारण वे आसानी से ऐसा कर सकती हैं। इस मूल्य वृद्धि से जहाँ एक ओर वे उपभोक्ताओं को लुटती हैं, वहीं दूसरी ओर वे इससे अपने शेयर धारकों के बड़े समुदाय के मुनाफे की हबस पूरी करती हैं। ऐसा करने वाली कम्पनी शेयर बाजार में चमक जाती हैं। शेयर बाजार में निवेश करने वाले विदेशी निवेशक ऐसी ही कम्पनियों को पसन्द करते हैं।

विदेशी सट्टेबाज कितने बेलगाम हैं, इसका अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि अक्टूबर 2008 में जब सेबी (भारतीय प्रतिभूति और नियामक बोर्ड) ने उनके काले कारनामों पर लगाम कसने की कोशिश की, तो दूसरे दिन ही ये विदेशी निवेशक शेयर बाजार से पूँजी निकाल कर उड़न छू होने लगे। बाजार धाराशायी हो गया। विदेशी पूँजी की वैशाखी पर टिकी हमारी अर्थव्यवस्था लड़खड़ाने लगी। ऐसा करके विदेशी सट्टेरियों ने सरकार को उसकी औकात बता दी। इस तरह गैरकानूनी बेनामी रुक्के का कारोबार करने वाले सट्टेरियों के होसले बुलंद रहे। डरी हुई सरकार ने सेबी के माध्यम से इनके लिये कई आकर्षक घोषणाएँ कीं। इनमें भविष्य में विश्वविद्यालय, धार्मिक संस्था, ट्रस्ट और पेन्सन फंड में भी

विदेशी पूँजी निवेश की इजाजत शामिल है। जाहिर है कि आवारा पूँजी के मालिक इन सट्टेबाजों को नियंत्रित करना सरकारों के बस में नहीं। उल्टे सरकारें ही उनसे नियंत्रित होती हैं, जबकि पिछले 20 वर्षों के दौरान इनके कारनामों के चलते दुनिया की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में भूचाल आते रहे हैं और पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था आज इनके रहमोकरम पर निर्भर है।

जुआरी पूँजी (शेयर बाजार) का संकट

जटिल वित्तीय उपकरण और आधुनिक तकनीक की मदद से बैंको और बड़े वित्तीय संस्थानों की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने की शेयर बाजार की क्षमता बहुत बढ़ गयी है। कोई वित्तीय संस्थान 60 करोड़ रुपये पूँजी लगाकर उससे 10 गुना बड़ी पूँजी, यानी लगभग 600 करोड़ के कारोबार पर अपना नियंत्रण कायम कर सकता है। 60 करोड़ की पूँजी रखने वाला बैंक 600 करोड़ के वित्तीय उपकरण बाँट सकता है और विश्व बैंक से लेकर दुनिया के सभी केन्द्रीय बैंक उसे मान्यता देते हैं। यह पूरी तरह कानूनी प्रक्रिया बना दी गयी है। 2007 से पहले अमरीका के सबसे बड़े बैंकों में से एक, लेहमन ब्रदर्स ने इसी आधार पर अपनी सम्पत्ति से कई गुना बड़ा ढाँव खेला था। सबप्राइम बंधक पत्र नामक वित्तीय उपकरण जो मकान पर दिये गये कर्ज राशि पर आधारित एक तरह का फर्जी बॉण्ड था, उसे बेचकर उसने शेयर बाजार के जरिये काफी पैसा जुटाया। ग्राहकों को बताया गया कि यह बन्धक पत्र मकानों के कर्ज पर बनाये गये हैं और अगर बैंक बंधक पत्र धारक को मुनाफा नहीं दिला सका तो धारक का मकान पर कब्जा हो जायेगा। उस समय मकानों के दाम बेतहासा बढ़ रहे थे, लेकिन जैसे ही मकान खरीदने वाले अपना कर्ज पाटने में अक्षम होने लगे, मकानों की बिक्री बन्द हो गयी। उसके दाम गिरने लगे, भ्रम टूटने लगा। बन्धक पत्र धारक लेहमन ब्रदर्स की शाखाओं की ओर दौड़े। लेकिन 60 करोड़ की सम्पत्ति के आधार पर 600 करोड़ कर्ज बाँटने वाला लेहमन ब्रदर्स इतनी बड़ी रकम कैसे वापस करता? वह दिवालिया हो गया। सबप्राइम बन्धक पत्र का कारोबार करने वालों की सम्पत्ति डूबने लगी। यह संक्रामक रोग अमरीका के सभी बैंकों में फैल गया, क्योंकि वे सभी इस जुएबाजी में लिप्त थे। अन्त में अमरीका के केन्द्रीय बैंक 'फ़ेडरल रिजर्व' ने अपने देशवासियों की मेहनत की गाढ़ी कमाई झोंक कर इन बड़े वित्तीय संस्थानों को बचाया और उससे जुड़े सट्टेबाजों को उबारा।

इतना सब कुछ हुआ, फिर भी सट्टेबाजी बन्द नहीं हुई, बल्कि उन बैंको और उनसे जुड़े सट्टेबाजों के हौसले और भी बुलंद हो गये। उन्होंने मान लिया कि बर्बादी की स्थिति में

सरकार तो हमें बचा ही लेगी। सवाल यह है कि पूरी दुनिया के शासकों ने जानबूझ कर इतने बड़े पैमाने पर सट्टेबाजी को बढ़ावा क्यों दिया? पूँजीवादी नयी विश्व व्यवस्था के संचालकों ने विश्व अर्थव्यवस्था को वित्तीयकरण की ओर धकेल कर उसे वायवीय और क्षणभंगुर क्यों बनाया।

पूँजी का वित्तीयकरण : परजीविता और चिरंतन संकट

पूँजीवाद माल उत्पादन की व्यवस्था है जो मुनाफे का प्रेरक होता है। पूँजीवाद की चालक शक्ति मुनाफाखोरी है, जिसे लोगों के मन मस्तिष्क में स्वभाविक और अनिवार्य बनाकर आरोपित कर दिया जाता है। दुनिया की बहुसंख्य जनता इस व्यवस्था में इसीलिए विश्वास करने लगती हैं। सभी मानते हैं कि उनके निवेश पर लगातार ऊँचा मुनाफा प्राप्त होगा। उत्पादन व्यवस्था में शामिल कुछ लोग सफल होते हैं तो कुछ लोग असफल। अगर चक्र घूमता रहे तो इससे ज्यादा फर्क भी नहीं पड़ता, लेकिन विभिन्न आर्थिक और राजनीतिक कारणों से विकसित देशों की उत्पादक अर्थव्यवस्था 1970 तक आते-आते ठहरावग्रस्त हो गयी। इस व्यवस्था के चालकों के हाथ-पैर फूलने लगे। ऐसे समय यदि पूँजीवादी सोच और हैसियत वाले लोगों का मुनाफा बरकरार न रखा जाता तो उनमें तीखी तकरार होती, पूँजीपतियों के बीच के अन्तरविरोध भड़क उठते, जिसे सम्भाल पाना खुद पूँजीवाद के बस की बात न होती, क्योंकि कोई भी मुनाफाखोर पूँजीपति शान्तिपूर्ण नैतिक उपदेशों से बहलता नहीं। इसीलिए पूँजीपतियों को बर्बाद होने से पहले ही बचा लिया गया। दुनिया भर के मेहनतकशों की लूट और तबाही की कीमत पर अर्थव्यवस्था को वित्तीयकरण की ओर मोड़ दिया गया। धीरे-धीरे उत्पादन की जगह वित्तीय कारोबार और सट्टेबाजी ही अर्थव्यवस्था का प्रधान पहलू बनता गया।

हमने देखा कि कैसे वित्तीयकरण के जरिये पूँजीवाद की परजीविता बढ़ती है जिसके कारण पूरी व्यवस्था और भी गहरे संकट की ओर बढ़ने लगती है। दुनिया के पूँजीपतियों के बीच उत्पादन के बजाय वित्तीय उपकरणों में पूँजी लगाने की होड़ लग जाती है। लेकिन बिना उत्पादन के दुनिया की असली सम्पत्ति में वृद्धि सम्भव नहीं होती और अगर उभरती अर्थव्यवस्थाओं को छोड़ दिया जाय तो 1970 के बाद दुनिया की उत्पादन अर्थव्यवस्था लगातार ठहरावग्रस्त होती गयी है। थोड़ी बहुत वृद्धि वित्तीयकरण की प्रेरणा से बनी हुई थी, जैसे- मकानों पर सट्टेबाजी ने सिमेन्ट, लोहा इत्यादि के उत्पादन और रियल स्टेट कारोबार को आगे बढ़ाया। लेकिन यह अर्थतंत्र का गौण पहलू है। वित्तीय उपकरणों के जरिये असली सम्पत्ति की तुलना

में फर्जी सम्पत्ति का कारोबार 1970 के बाद इतनी तेजी से बढ़ा कि आज दुनिया में असली सम्पत्ति से 10 गुना ज्यादा कागजी सम्पत्ति है। सवाल यह है कि कागजी सम्पत्ति के मालिकों को पूँजीवाद कैसे असली सम्पत्ति में से हिस्सा दिलवायेगा। इसके लिये तो पृथ्वी जैसे नौ ग्रहों का निर्माण करना होगा, अन्यथा पूरी धरती पर कब्जा करने के बावजूद 10 में से 9 पूँजीपति बर्बाद हो जायेंगे या कागजी सम्पत्ति में पूँजी लगाने वालों को यह बताया जाय कि पूँजीवाद सबको वाजिब हिस्सा देने योग्य नहीं रहा। इसलिए 10 वाँ हिस्सा लेकर संतोष करो। फर्जी सम्पत्ति का इतना बड़ा अम्बार खड़ा करते समय पूँजीपतियों ने उस पर कैसे विश्वास कर लिया? सच पूछा जाय तो पूँजीपतियों में भी दो किस्म के लोग हैं एक बुद्धिजीवी और दूसरे सामान्य पूँजीपति। जॉर्ज सोरोस जैसे बुद्धिजीवी जानते थे कि इसके अलावा उनके स्वार्थों की पूर्ति का दूसरा कोई रास्ता नहीं है। वे यह भी जानते थे कि वे वर्तमान संकट को और अधिक विकट होने के लिये टाल रहे हैं। तब वे सुरक्षित दौंव खेलने लगे। दूसरे सामान्य पूँजीपति पूँजीवाद को संचालित करने वाले नियमों से अनभिज्ञ हैं। वे पूँजी के बारे में मार्क्स के सिद्धान्त को वस्तुगत नियम न मानकर कम्प्युनिस्टों का प्रोपगैण्डा (दुष्प्रचार) मानते हैं। लेकिन इन नियमों से अंजान उन्होंने अपने निहित स्वार्थ के हिसाब से कदम उठाये। उन्हें विश्वास दिला दिया गया कि सट्टेबाजी से केवल लाभ ही लाभ होगा इससे डरने की जरूरत नहीं है। इस तरह परजीवी होने के बावजूद सट्टेबाजी का झण्डा गढ़ गया।

हालाँकि मार्क्स के जमाने में शेयर बाजार की सट्टेबाजी का इतना अधिक प्रचलन नहीं था, फिर भी इसी सम्बन्ध में पूँजी के पहले खण्ड में उन्होंने कहा था कि “शेयर की सट्टेबाजी के कारोबार में लिप्त हर व्यक्ति जानता है कि कभी न कभी तो इसका ध्वस्त होना निश्चित है, लेकिन हर व्यक्ति यही उम्मीद करता है कि शायद यह उसके पड़ोसी के सिर पर गिरेगा और उसके बाद उसके ऊपर सोने की बरसात होगी और वह हिफाजत से उसे अपनी तिजोरी में भरेगा। “बाढ़ आयेगी मेरे बाद!” ही हर पूँजीपति और हर पूँजीवादी राष्ट्र का नारा है। यही वजह है कि पूँजी के मालिक, मजदूरों के स्वास्थ्य और उनकी जान को लेकर लापरवाह होते हैं, जब तक समाज उनको मजबूर न कर दे।”

अब दुनिया की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाएँ ऐसे वित्तीय उपकरण बनाने और जुआघर के संचालन में लगा दी गयी। उनका दावा था कि वे कभी असफल नहीं हो सकते। लेकिन 1998 में हेज फण्ड सहित कई वित्तीय उपकरण फेल हो गये जिसका कारण

सट्टा गुरुओं ने कुछ और बताया और पहले से भी जटिल वित्तीय उपकरण गढ़ने में लग गये। कम्प्यूटर की मदद से ऐसे भी उपकरण बनाये गये, जिन्हें इंसानी दिमाग शायद ही कभी समझ सके। 2010 तक स्थिति भयानक हो गयी। असली सम्पत्ति की तुलना में 10 गुना बड़ी कागजी सम्पत्ति पूँजीवाद के जी का जंजाल बन गयी है। 2008 से शुरू हुई और अब तक जारी वैश्विक मन्दी ने कम्पनियों की तबाही, बढ़ती बेरोजगारी और बेलगाम महँगाई जैसे संकट तो पैदा किये ही, वित्तीय संकट के चलते पूँजीपतियों के बीच पूँजीवाद की साख बनाये रखने की चुनौती भी खड़ी हो गयी।

आर्थिक संकट राजनीतिक संकट को जन्म देता है। वैश्विक मन्दी से मेहनतकश वर्ग के कन्धों पर पड़ने वाले असह्य बोझ के कारण जनता का व्यवस्था के प्रति आक्रोश तो बढ़ेगा ही, खुद पूँजीपतियों की आपसी कलह भी बढ़ती जायेगी। मुनाफे के खूँखार भेड़ियों को जब तक आसानी से मेमने का माँस मिलेगा, वे मिल-बाँट कर चाव से खाते रहेंगे। लेकिन जैसे ही माँस में कमी होगी वे गुरते हुए एक दूसरे पर टूट पड़ेंगे। पूँजीपतियों की जी-20 बैठक का (जून 2012) की कार्यसूची यही थी कि पूँजीवाद को इस संकट से कैसे बचाया जाय। लेकिन इस व्यवस्था को बनाये रखते हुए इस संकट का कोई समाधान सम्भव ही नहीं है। होता तो वे जरूर अपना लेते और संकट की इस घड़ी में वह बैठक बेनतीजा नहीं होती।

1990 के दशक के अन्त में सोवियत रूस के टूटने और बर्लिन की दीवार ढहने तथा दुनिया पर साम्राज्यवादी वैश्वीकरण का मॉडल थोपे जाने के दौरान पूँजीवादी व्यवस्था के अजर-अमर होने की भविष्यवाणी की गयी थी। आज पूँजीवाद के सामने मेहनतकश वर्ग की ओर से तत्काल कोई चुनौती नहीं है, कोई समाजवादी खेमा भी नहीं है, फिर भी उसे अपनी परछाई से डर लग रहा है। इस व्यवस्था के तारणहार अपने सारे नुस्खे आजमा चुके हैं और अब अपने अन्त को टालने के लिए तीन-तिकड़म भिड़ा रहे हैं। विकल्प क्या है, ये उन्हें भी पता है, लेकिन कोई भी व्यवस्था खुद ही अपने को खत्म नहीं करती। जर्जर से जर्जर इमारत को भी सचेतन तौर पर गिराना पड़ता है। यह विश्व जनगण की सचेतन कार्यवाइयों पर निर्भर है कि इतिहास की गति कब तेज रफ्तार पकड़ेगी। अगर इसे जल्दी से जल्दी बदला नहीं गया तो संकट का परिणाम अन्ततः दुनिया की मेहनतकश जनता और खास तौर पर गरीब देशों की जनता को भुगतना पड़ेगा। □

पूँजीवाद हमें क्या देता है

-रिचर्ड डी वोल्फ

(रिचर्ड डी वोल्फ का यह लेख बताता है कि “जब तक समाज इस पूँजीवादी उत्पादन के संगठन को लाँच कर आगे नहीं बढ़ता, आर्थिक संकट यूँ ही आता रहेगा और वे जनता से इसी तरह उससे उबारने के बारे में झूठे वादे करते रहेंगे।” रिचर्ड डी वोल्फ मेसाचुसेट्स विश्वविद्यालय के मानद प्रोफेसर, डॉक्यूमेंट्री फिल्म निर्माता, रेडियो कार्यक्रम संचालक और कई पुस्तकों के लेखक हैं। यह लेख ‘मंथली रिव्यू’ से आभार सहित लेकर अनुवाद किया गया है।)

अमरीका के ज्यादातर राष्ट्रपति एक या एक से अधिक पूँजीवादी गिरावटों (ठहराव, मंदी और संकट) की सदारत करते आ रहे हैं। रूजवेल्ट के जमाने से ही हर अमरीकी राष्ट्रपति जनता और पूँजीपतियों की माँग पर मंदी से निपटने के लिए कोई न कोई “कार्यक्रम” जरूर पेश करता है। रूजवेल्ट और उसके बाद के हर राष्ट्रपति ने यह वादा किया कि उसका कार्यक्रम “न केवल मौजूदा आर्थिक कठिनाइयों से मुक्ति दिलाने का, बल्कि इस बात को भी सुनिश्चित करेगा कि हम या हमारे बच्चे भविष्य में ऐसी मंदी का दोबारा सामना नहीं करेंगे।” ओबामा इस बात की सबसे ताजा मिसाल है।

अब तक कोई भी राष्ट्रपति इस वादे को पूरा नहीं कर पाया। मौजूदा पूँजीवादी संकट पिछले पाँच सालों में अभी बीच रास्ते तक ही पहुँचा है और खत्म होने का नाम नहीं ले रहा है। यह साबित करता है कि भावी आर्थिक संकटों को रोकने का वादा, केवल पिछले हर राष्ट्रपति और उसके महँगे आर्थिक सलाहकारों को बचाने में ही सहायक रहा है। चूँकि ओबामा का कार्यक्रम भी पिछले राष्ट्रपतियों के कार्यक्रमों से मूलतः भिन्न नहीं है, इसलिए इसकी सफलता की उम्मीद पालने का भी कोई औचित्य नहीं है।

पूँजीवादी संकट को हल करने में इस असफलता की कीमत हमारे देश के लाखों लोगों को चुकानी पड़ी, जिन्होंने न केवल रोजगार, रोजगार की सहूलियतें और सामाजिक सुरक्षा गँवाने जैसी बार-बार की तबाही झेली, बल्कि हमारे बच्चों के लिए मकान और नौकरी की उम्मीद भी काफी कम होती गयी। पूँजीवादी संकट से उबर पाने में असफलता के चलते आम जनता को जो व्यक्तिगत, पारिवारिक और आर्थिक नुकसान उठाने पड़े, वे सचमुच विचलित कर देने वाले हैं। लाखों अमरीकी आज या तो रोजगार से वंचित हैं या फिर वे पार्ट-टाइम नौकरी

करते हैं, जबकि उन्हें पूरा काम चाहिए। अमरीकी सरकार के मुताबिक अर्थव्यवस्था के तीस फीसदी मशीन, औजार, ऑफिस, गोदाम और कच्चा माल बेकार पड़े हैं। यह पूँजीवादी व्यवस्था हम लोगों को उस उपज और संपत्ति से वंचित करती है जिसका उत्पादन हो सकता है, बशर्ते लोगों को काम मिले और उत्पादन के साधन बेकार पड़े सड़ते न रहें।

यह उत्पादन हमारे उद्योगों और हमारे शहरों का पुनर्निर्माण कर सकता है, उनको पर्यावरण का सम्मान करने वाली संस्थाओं में परिवर्तित कर सकता है तथा अमरीका और दूसरे देशों की गरीबी दूर कर सकता है। आज जो लोग बेरोजगार हैं, उनको काम मिल जाये तो वे बेहतर जिंदगी जी सकते हैं, अपना घर चला सकते हैं और उत्पादन भी बढ़ा सकते हैं। अगर रोजगार चाहने वाले लोगों को बेकार पड़े उत्पादन के साधनों से जोड़कर हमारे लिए जरूरी चीजों का उत्पादन उत्पादन चालू करने में पूँजीवाद आज इतनी बुरी तरह असफल नहीं होता तो निस्संदेह इससे हम सबका बहुत ही अधिक लाभ होता।

क्या इस बुनियादी समस्या के बारे में सरकारी नीतियाँ और कार्यक्रम झूठ नहीं फैलाते? बिलकुल आखिरकार, सभी प्रमुख पार्टियाँ, नेता, लॉबी बनाने वाले तथा मीडिया और विद्वानों के बीच उनके साथी-संघातियों ने एक साथ मिल कर पूँजीवाद का उत्सव मनाया। पिछले पचास सालों से वे इस बात पर जोर देते रहे कि पूँजीवाद का प्रदर्शन चाहे जितना भी खराब क्यों न हो, इसकी आलोचना करना बेवकूफी, निराधार, बेहूदा, देशद्रोह और घटिया काम है। उनका एक ही मंत्र रहा है- “पूँजीवाद अच्छा काम करता है।”

पूँजीवाद की आलोचना पर लगभग पूरे प्रतिबन्ध के सुरक्षा कवच के पीछे अमरीकी पूँजीवादी व्यवस्था की हालत खस्ता हो गयी (आम तौर पर यही होता है जब सामाजिक संस्थाओं की

सार्वजनिक आलोचना की इजाजत नहीं होती)। जब 2007 में यह संकट शुरू हुआ, तब पूँजीवाद हम में से अधिकांश लोगों के लिए “बुरा काम कर रहा था।” आने वाले वर्षों में यह और भी बुरे प्रदर्शन की लगातार चेतावनी दे रहा है। आलोचना से परे, पूँजीवाद को टॉनिक पिलाने वाले अब सरकार पर दबाव डाल रहे हैं कि वह सार्वजनिक खर्चों में कटौती करे, जबकि अमरीकी जनता को इसकी पहले से भी ज्यादा जरूरत है। उनका मूल नारा और कार्यक्रम आज भी यही है- थोड़े से लोगों (६।१ नवानों) के लिए आर्थिक “स्वास्थ्य लाभ” और बहुतों के लिए मितव्ययिता।

1950 और '60 के दशकों में सबसे धनी अमरीकियों के लिए आय कर की उच्चतम सीमा 91 प्रतिशत थी जो आज 35 प्रतिशत रह गयी है। 1977 में वे लोग “पूँजीगत लाभ” (जब शेयर या बॉण्ड की बिक्री वे खरीद-मूल्य से अधिक दाम पर करते थे) पर 40 प्रतिशत टैक्स जमा करते थे। आज यह दर 15 प्रतिशत है। आम जनता को टैक्स में इतनी बड़ी छूट मयस्सर नहीं। इन कटौतियों से धनी और भी धनी होते गये, जबकि सरकार को धनी लोगों से टैक्स न मिलने की भरपाई उधार लेकर करनी पड़ी। कैसी विचित्र स्थिति है कि धनी लोग अब सरकारी कर्ज का उपभोग कर रहे हैं और इसके एवज में आम अमरीकियों की सार्वजनिक सेवाओं में कटौती की जा रही है।

आज हम जिस तरह के आर्थिक संकट के शिकार हैं उसका समाधान, राष्ट्रपति का एक और सुधार, नियमन, आर्थिक उत्प्रेरण और घाटे का बजट कार्यक्रम नहीं कर सकता। यह तो हम वर्षों से करते ही आ रहे हैं। यह उपाय लोगों को बार-बार इस आर्थिक व्यवस्था द्वारा “कठिन समय” में धकेलते चले जाने से रोक नहीं पाया। पूँजीवाद की गम्भीर, मुक्त और खुली सार्वजनिक आलोचना काफी लम्बे अरसे से अपेक्षित है और होना तो यह चाहिए था कि पहले ही इन उपायों को रोका जाता। हमें इस बात की जाँच करना जरूरी है कि अमरीका, पूँजीवाद से बेहतर उपाय क्या और कैसे कर सकता है।

किसी भी मानवीय संस्था की तरह आर्थिक व्यवस्था भी जन्म लेती है, समय के साथ फलती-फूलती है और गुजर जाती है। दास प्रथा और सामंतवाद की मृत्यु होने पर पूँजीवाद का जन्म हुआ था। फ्रांसीसी क्रांतिकारियों के शब्दों में इसने “स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा” का वादा किया था। इसने

उन लक्ष्यों की ओर कुछ सही प्रगति भी की। हालाँकि इसी ने कुछ ऐसे भारी अवरोध भी खड़े किये, ताकि इन लक्ष्यों को वास्तव में हासिल करना असंभव हो जाय। उनमें से प्रमुख है, पूँजीवादी उद्यमों के भीतर उत्पादन का संगठन।

पूँजीवादी उद्यम जो आज की अर्थव्यवस्था पर हावी हैं, उनके बड़े अंशधारक और उनके द्वारा चुने गये बोर्ड के डायरेक्टर विशेष हैसियत वाले लोग होते हैं और वे सभी जरूरी फैसले अलोकतांत्रिक तरीके से लेते हैं। बड़े अंशधारक और बोर्ड के डायरेक्टर उन पूँजीवादी उद्यमों से सीधे जुड़े हुए लोगों में से गिने-चुने लोग ही होते हैं। भारी संख्या में उन उद्यमों के मजदूर और उन उद्यमों पर निर्भर जन समुदाय होते हैं।

फिर भी इन थोड़े से लोगों का हर निर्णय (कि क्या, कैसे कहाँ उत्पादित करना है और उससे होने वाले मुनाफे को कहाँ खर्च करना है) एक बहुत बड़ी आबादी की जिंदगी पर असर डालता है, जिसमें संकट का आना भी शामिल है, जबकि उन बहुसंख्य लोगों को निर्णय लेने में सीधे भागीदारी करने की इजाजत नहीं होती। तब इसमें भला आश्चर्य की क्या बात कि मुट्ठी भर लोग आमदनी और मुनाफे का बहुत बड़ा भाग अपने ही पास रख लेते हैं। इसी की बदौलत वे राजनीति पर अपनी गिरफ्त कायम कर लेते हैं और आर्थिक नुकसान और वंचना को खत्म करने की माँग कर रहे बहुमत की राह में रोड़े अटकाते हैं। यही कारण है कि आज सरकार धनी लोगों को संकट से उबारने पर पैसा बहा रही है, जबकि हम लोगों को मितव्ययिता का पाठ पढ़ा रही है।

जब तक समाज इस पूँजीवादी उत्पादन के संगठन को लॉघ कर आगे नहीं बढ़ता, आर्थिक संकट यूँ ही आता रहेगा और वे जनता से इसी तरह उससे उबारने के बारे में झूठे वादे करते रहेंगे। व्यवस्था के मुट्ठी भर कर्ताधर्ताओं से यह उम्मीद करना हद दर्जे का भोलापन है कि जो व्यवस्था उनके हित में भलीभाँति काम कर रही है, उसकी अर्थव्यवस्था और राजनीति का वे जनवादीकरण करेंगे। यह काम तो 99 प्रतिशत जनता के ही जिम्मे है।

मारुति उद्योग विवाद : क्या श्रमजीवी राज्य के नागरिक नहीं?

-दिनेशराय द्विवेदी

मारुति सुजुकी इंडिया के डीजल कार बनाने वाले मानेसर कारखाने में पिछले दिनों हुई घटनाओं से सभी अवाकू हैं। ऐसे समय में जब कि दुनिया भर की बड़ी अर्थव्यवस्थाएँ मंदी से जूझ रही हैं, भारतीय अर्थव्यवस्था विदेशी निवेश को ताक रही है, कोई सोच भी नहीं सकता था कि इस बड़े और कमाऊ उद्योग में ऐसी घटना भी हो सकती है जिसमें बड़ी मात्रा में आगजनी हो, अधिकारी और मजदूर घायल हों और किसी की जान चली जाये। कारखाने के अधिकारियों, कर्मचारियों और मजदूरों पर अचानक आतंक का साया छा जाय, मजदूर पलायन कर जायें और कारखाने में अस्थायी रूप से ही सही, उत्पादन बंद हो जाय।

मारुति उद्योग में प्रबंधन और मजदूरों के बीच विवाद नया नहीं है। मार्च 2011 में यह खुलकर आ गया जब ठेका मजदूर अपनी यूनियन को मान्यता देने की माँग को लेकर टूल डाउन हड़ताल पर चले गये। प्रबंधन ठेका मजदूरों को अपना ही नहीं मानता तो वह इस यूनियन को मान्यता कैसे दे सकता था? इसी माँग और अन्य विवादों के चलते सितम्बर 2011 तक तीन बार कारखाने में हड़ताल हुई। सितंबर की हड़ताल में तो मारुति के सभी मजदूरों और अन्य उद्योगों के मजदूरों ने भी उनका साथ दिया। कुछ अन्य मामलों पर बातचीत और समझौता भी हुआ, लेकिन यूनियन की मान्यता का विवाद बना रहा। जिससे मजदूरों में बैचेनी और प्रबंधन के विरुद्ध आक्रोश बढ़ता रहा। मजदूरों का मानना था कि संगठन बनाना और सामूहिक सौदेबाजी उनका कानूनी अधिकार है। यह गलत भी नहीं, लेकिन इस अधिकार को स्वीकार करने के स्थान पर प्रबंधन ने यूनियन के नेता को तोड़ने की घृणित हरकत की। आग अंदर-अंदर सुलगती रही और एक हिंसक रूप ले कर सामने आयी। अब एक तरफ इस घटना को लेकर प्रबंधन और सरकार की ओर से यह प्रचार किया जा रहा है कि मजदूर हिंसक और हत्यारे हैं, तो दूसरी ओर मजदूरों के पक्ष पर कोई बात नहीं की जा रही है। एक वातावरण बनाया जा रहा है कि मजदूरों का वर्गीय चरित्र ही हिंसक और हत्यारा है। उद्योगों के प्रबंधन और राज्य द्वारा प्रतिदिन की जाने वाली हिंसा को जायज ठहराया जा रहा है। इस मामले में हुई एक प्रबंधक की मृत्यु को हत्या कहा जा रहा है।

कारखाने में बलवा हुआ, आगजनी हुई और एक व्यक्ति जो आगजनी से बच नहीं सका उसकी मृत्यु हो गयी। वह प्रबंधक था, वह कोई मजदूर भी हो सकता था। इस तथ्य पर, जो तमाम संसरशिप के बाद भी सामने आ गया है, किसी का ध्यान नहीं है कि मजदूर को पहले एक सुपरवाइजर ने जातिसूचक गालियाँ दीं,

प्रतिक्रिया में मजदूर ने उसे एक थप्पड़ रसीद कर दिया। इन दो अपराधों में से जातिसूचक गाली देना कानून की नजर में भी अधिक गंभीर अपराध था। लेकिन उस अपराध के अभियुक्त को बचाया गया और थप्पड़ मारने वाले मजदूर को को निलंबित कर दिया गया। उस के बाद मजदूरों ने सवाल उठाया कि बड़ा अपराध करने वाले को बचाया जा रहा है तो छोटे अपराध के लिये मजदूर को निलंबित क्यों किया जा रहा है? उन्होंने उसे बहाल करने की माँग की जिससे उत्पन्न तनाव बाद में बलवे में बदल गया।

क्या प्रबंधन के 500 व्यक्ति कारखाने के अंदर संरक्षित और विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्ति हैं? वे शेष 1500 स्थायी और 2500 ठेकेदार मजदूरों के प्रति कोई भी अपराध करें, सब माफ हैं, एक मजदूर किसी तरह की शिकायत नहीं कर सकता। करे तो उस पर न तो प्रबंधन कोई कार्यवाही करे और न ही पुलिस प्रशासन। बलवा करने वाले मजदूर किसी राजनैतिक उद्देश्य के लिए सचेत लोग नहीं, जो इरादतन काम करते हों। लगातार दमन किसी न किसी दिन ऐसा क्रोध उत्पन्न कर ही देता है जो भविष्य के प्रति सोच को नेपथ्य में पहुँचा देता है। ऐसा क्रोध जब एक पूरे समूह में फूट पड़े तब इस तरह की घटना अस्वाभाविक नहीं, राज्य प्रबंधन की असफलता है। मजदूर मनुष्य हैं, कोई काल्पनिक देवता नहीं, इस तरह निर्मित की गई परिस्थितियों में उनका गुस्सा फूट पड़ा तो इसकी जिम्मेदारी मजदूरों पर कदापि नहीं थोपी जा सकती। इसके लिये सदैव ही प्रबंधन जिम्मेदार होता है, जो ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है। क्यों किसी इलाके में दंगा हो जाने पर उस इलाके के जिलाधिकारी और पुलिस कप्तान को अपना कर्तव्य नहीं निभाने का दोषी माना जाता है?

इस घटना में जिस व्यक्ति की मृत्यु हुई है उसकी एकल जिम्मेदारी से कारखाने का प्रबंधन और सरकार नहीं बच सकती। लेकिन बचाव का उद्देश्य मीडिया के माध्यम से प्रचार कर के घटना की जिम्मेदारी मजदूरों के मथे मढ़ कर पूरा किया जा रहा है। कारखाने के ठेका मजदूरों की यूनियन दो वर्ष से मान्यता के लिये लड़ रही है, लेकिन उससे कहा जा रहा है कि उनका प्रतिनिधित्व गुड़गाँव के दूसरे कारखाने की यूनियन ही करेगी। कारखाने में स्टाफ और मजदूरों की दो अलग-अलग यूनियनें हो सकती हैं, तो ठेका मजदूरों की यूनियन स्थायी मजदूरों की यूनियन से अलग क्यों नहीं हो सकती? लेकिन कारखाना प्रबंधन तो ठेका मजदूरों को उद्योग का कर्मचारी ही नहीं मानता। लगातार कामगारों के जनतांत्रिक अधिकारों की अवहेलना के परिणाम किसी दिन तो सामने आने

थे। इन परिणामों को अस्वाभाविक और आपराधिक नहीं कहा जा सकता। एक जनतांत्रिक राज्य केवल धन संपत्ति की सुरक्षा करने के लिए नहीं हो सकता। उसका कर्तव्य नागरिकों के जनतांत्रिक अधिकारों की रक्षा करना भी है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह मानना गलत नहीं कि राज्य श्रमजीवियों को अपना नागरिक ही नहीं मानता। इस मामले में राज्य अपना जनतांत्रिक कर्तव्य निभाने में पूरी तरह से असफल रहा है। मानेसर दुर्घटना पूरी तरह से उसी का नतीजा है।

कहा जा रहा है कि इस घटना के पीछे किसी तरह का षडयंत्र नहीं है। यदि ऐसा है तो फिर इस तथ्य को सामने आना ही चाहिए कि मजदूर समुदाय में इतना क्रोध कहाँ से पैदा हुआ था, उसका कारण क्या था? यदि मजदूरों को हत्यारा समुदाय करार दिया जाता है तो उस का केवल एक अर्थ लिया जा सकता है कि जाँच व न्यायतंत्र निर्णय पहले ही ले चुका है ...अब केवल निर्णय के पक्ष

में सबूत जुटाये जा रहे हैं। इस घटना में किसी षडयंत्र को देखा जाये तो उसका मात्र एक ही उद्देश्य दिखायी देता है कि कारखाने को हरियाणा से गुजरात स्थानान्तरित करने का बहाना तैयार किया जा रहा है। यदि ऐसा है तो फिर उद्योग का प्रबंधन और गुजरात सरकार ही षडयंत्रकारी सिद्ध होंगे। षडयंत्र के आरोप से बचने के लिये प्रबंधन बार-बार घोषणा कर रहा है कि उसका इरादा कारखाने को बंद करने का या गुजरात स्थानान्तरित करने का नहीं है। किन्तु जब उद्योग की एक इकाई गुजरात में स्थापित करने का निर्णय उद्योग के प्रबंधक कर चुके हैं तो इस संभावना से इन्कार भी नहीं किया जा सकता कि निकट भविष्य में गुजरात में इकाई स्थापित होने पर उस से बाजार की माँग पूरा करना संभव हो जाये, तो हिंसा और श्रमिक असंतोष का बहाना बना कर हरियाणा की इकाइयों को एक-एक कर बंद कर दिया जाये और उनकी मशीनें गुजरात स्थानान्तरित कर दी जायें। ऐसा अनेक उद्योगों में पहले होते देखा गया है। □

मारुति हिंसा के साये में, होंडा मजदूरों पर पुलिस हमले की यादें -अमन सेठी

सात साल पहले विक्रम सिंह मानेसर (हरियाणा) स्थित होंडाफैक्टरी के लगभग 800 मजदूरों की भीड़ में शामिल था, जब पुलिस द्वारा उन्हें चारों ओर से घेर कर उनकी पिटाई की गयी थी। “हमारी माँगें थीं कि मैनेजमेंट हमारी यूनियन को मान्यता दे और जिन मजदूरों को आन्दोलन के दौरान निलंबित या निष्कासित किया गया है, उनको बहाल किया जाय। प्रशासन द्वारा हमें मिनी-सेक्रेटेरियट बुलाया गया था और उसी वक्त हमें चारों ओर से घेर कर पीटा गया था।

आज, उस हमले की सातवीं वर्षगाँठ मनाने के लिये 8000 मजदूर होंडा फैक्टरी में इकट्ठा हुए। इसके पास में ही मारुती सुजुकी फैक्टरी है। यह आयोजन हाल ही में उस फैक्टरी में हुई हिंसक घटनाओं की पृष्ठभूमि में हुआ, जिसमें एक जेनरल मैनेजर की मौत हो गयी थी और कई अन्य मैनेजर घायल हुए थे।

स्थानीय और राष्ट्रीय यूनियनों के नेताओं ने अपने भाषण में मारुती में हुई हिंसा पर चिंता व्यक्त की, लेकिन उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि मजदूरों की जायज शिकायतें हैं जिनको अमूमन नजरंदाज किया जाता है। होंडा वर्कर यूनियन के अशोक यादव ने कहा कि “यह बात सभी को याद रखनी चाहिए कि हम अपने पेट की भूख की वजह से ही संघर्ष करते हैं।”

होंडा मजदूरों की यह सभा खास तौर पर इसलिए महत्वपूर्ण है कि आसपास के गावों की “महापंचायत” ने मारुती और होंडा जैसी कंपनियों का समर्थन करने का बीड़ा उठाया था और मजदूर यूनियनों से लड़ने की कसम खायी थी।

सोमवार को पंचायत के नेता जिनको मारुती और होंडा जैसी कंपनियों में ट्रांसपोर्ट और दूसरे सहायक कामों का ठेका मिला हुआ

है, पिछले हफ्ते हुई हिंसक वारदात के चलते मानेसर से बड़ी मैनुफैक्चरिंग कंपनियों के भाग जाने को लेकर अपनी परेशानी का इजहार किया था और यह धमकी दी थी कि जरूरत पड़ने पर वे होंडा मजदूरों की सभा को जबरन रोकेंगे।

ऐसा लगता है कि आज की सुबह मजदूर यूनियन, पंचायत और स्थानीय पुलिस के बीच इस बात पर सुलह-समझौता हो गया कि यूनियन जुलूस नहीं निकालेगी, लेकिन फैक्टरी के भीतर मजदूरों की सभा करेगी।

सीटू के नेता सतबीर ने कहा कि “हम मजदूर अपनी जमीन से उजड़े हुए किसानों के बच्चे हैं और यह बहुत ही दुखद है कि निहित स्वार्थ के चलते कुछ लोग मजदूरों और किसानों में फूट डालने की कोशिश कर रहे हैं।”

सभा के बाद बात करते हुए मजदूरों ने पिछले सात साल के दौरान अपनी यूनियन की सफलता-असफलता का लेखाजोखा लिया। उन्होंने बताया कि मजदूरी को लेकर जो भी समझौता वार्ता और समाधान हुआ, वह तो संतोषजनक रहा, लेकिन पुलिस के हमले के बाद जिन 63 मजदूरों के ऊपर हत्या का प्रयास और दंगा-फसाद जैसे झूठे मुकदमें लाद दिये गये थे, वे आज भी उन इल्जामात से जूझ रहे हैं।

विक्रम सिंह ने कहा कि “सात साल हो गए, लेकिन आज तक एक भी मैनेजर या पुलिस वाले पर हम लोगों के ऊपर हमला करने का मुकदमा दर्ज नहीं किया गया। उल्टे हम लोग ही हत्या के इल्जाम का सामना कर रहे हैं और हर महीने अदालत में हाजिर हो रहे हैं।” □

पॉस्को विरोध के पाँच साल

कलिंग कभी नहीं हारता

-सुजाता चौधरी

चक्रवर्ती सम्राट बनने का सपना संजोये, कई राज्यों को जीतते हुए सम्राट अशोक की चतुरंग सेना जब कलिंग (आज का ओडिसा) की किसान जनता से टकरायी तो उसका पराक्रम ध्वस्त हो गया। एक तरफ दम्भ के नशे में चूर एक क्रूर आतातायी की बेहद शक्तिशाली फौजें थी, तो दूसरी ओर बराबरी को मानने वाली कलिंग की औरतें, मर्द, बूढ़े और बच्चे एक साथ। कई सालों तक युद्ध चलता रहा, कलिंग की धरती अपने बेटे-बेटियों और अशोक के सैनिकों के खून से लाल हो गयी। कलिंग खून के आखिरी कतरे तक लड़ता रहा, उसने कभी हार नहीं मानी क्योंकि सवाल जीवन, जीविका और माटी का था।

उसी कलिंग या वर्तमान में ओडिसा के जगतसिंहपुर जिले की आदिवासी जनता एक बार फिर अपने जीवन, जीविका और माटी के सवाल को लेकर लड़ रही है। इस बार उनका मुकाबला एक विराट बहुराष्ट्रीय शक्ति पॉस्को से है, जिसके समर्थन में दिल्ली से लेकर भुवनेश्वर तक के शासक मजबूती से खड़े हैं। यह नये तरह का युद्ध भी पिछले सात साल से जारी है और कलिंग हार मानने को तैयार नहीं है।

पॉस्को, जो कोरिया में रजिस्टर्ड मूलतः अमरीकी मालिकाने वाली कम्पनी है, भारत सरकार के साथ मिलकर स्टील प्लांट लगाने के नाम पर 2,000 एकड़ जमीन पर कब्जा कर चुकी है। यह भारत में अब तक का सबसे बड़ा विदेशी निवेश है। पॉस्को प्रतिरोध संग्राम समिति के नेतृत्व में पिछले सात साल से चल रहे स्थानीय जनता के प्रबल प्रतिरोध के चलते, पॉस्को कम्पनी अभी तक वहाँ अपना कारोबार शुरू नहीं कर पायी है। पॉस्को के लिए मुख्यतः तीन ग्राम पंचायतों ढिंनकिया, नुआगाँ, गड्कूजुंग के किसानों की जमीन छीनी गयी है। इस पूरे इलाके में सरकार और कम्पनी के भाड़े के गुण्डा गिरोह खुलेआम घूम रहे हैं। उन्हें स्थानीय निवासियों के साथ कुछ भी करने की खुली छूट है। उन्होंने पूरे इलाके को अपना आतंकी क्षेत्र जैसा बना दिया है। वहीं दूसरी ओर गाँव वालों के खिलाफ

सैकड़ों झूठे मामले दर्ज करा दिये गये हैं।

धिनकिया गाँव की मनोरमा जो प्रतिरोध समिति की सदस्य भी हैं टाईफाइड बुखार होने पर इलाज कराने शहर नहीं जा सकी। उनके खिलाफ 48 मुकद्दमे दर्ज हैं और शहर जाते ही पुलिस इसे पकड़कर जेल में डाल देगी। पुलिस ने 65 साल की सत्यवती के साथ भी ऐसा ही सलूक किया था, जब वे अपने बेटे रंजन पर गुण्डों द्वारा किये गये हमले की शिकायत करने थाने गयीं तो पुलिस ने उल्टा उन्हें ही थाने में बंद कर दिया। इस बुजुर्ग महिला के खिलाफ थाने में पहले से ही कई मामले दर्ज थे, जिनका उन्हें पता ही नहीं था। इसी तरह जब रमेश पोसायत अपने बीमार बेटे को लेकर शहर गये तो उन्हें भी पुलिस ने उठाकर जेल में डाल दिया। उनके खिलाफ भी दर्जनों झूठे मुकद्दमे दर्ज किये गये थे, जिनका उन्हें पता भी नहीं था।

समिति के प्रमुख अभय साहू के खिलाफ अलग-अलग तरह के लगभग 40 मामले दर्ज हैं। समिति के कार्यकर्ता राजन के खिलाफ 46 मामले हैं। राजन कहते हैं कि “मुझे लगता है कि यह देश मेरा नहीं पॉस्को का है।” गाँव के पढ़े-लिखे (स्नातक) प्रकाश ने जब सरकार से सवाल पूछा कि “एक कृषि प्रधान देश में सरकार किसानों से जमीन छीनकर विदेशी कम्पनी को क्यों दे रही है” तो पुलिस ने उन्हें भी पकड़कर जेल में डाल दिया। प्रकाश लगभग 9 महीने बाद जेल से छूटे और आज उनके खिलाफ भी 28 मुकद्दमे हैं।

धिनकिया के ज्योतिरंजन के अनुसार उनके गाँव के लगभग 1400 लोगों के खिलाफ मामले दर्ज हैं। कई बार तो पूरे गाँव के खिलाफ ही मुकद्दमे दर्ज कर दिये गये। इन झूठे मुकद्दमों के कारण गाँव के बहुत से लोगों की नौकरियाँ छूट चुकी हैं। गाँव से बाहर निकलते ही पुलिस उन्हें गिरफ्तार कर लेती है। 28 साल तक गाँव के पोस्ट मास्टर रहे बाबाजी चरण सम्न्त्रा के खिलाफ 21 मुकद्दमे हैं। उन्हें निलम्बित किया जा चुका है। अदालत में अपने बकाया और पेंशन का मुकद्दमा जीत जाने के बावजूद उन्हें सरकार से कोई भुगतान प्राप्त नहीं हुआ है।

एक तरह से पुलिस ने एक अदृश्य दीवार पूरे इलाके के चारों ओर खड़ी कर दी है। जो भी उसे लाँघता है, सीधे जेल जाता है और फिर दर्जनों मुकद्दमे साथ लेकर लौटता है।

सरकारी दमन और बर्बरता की कहानी यहीं समाप्त नहीं होती। सरकार माओवादी बताकर आंदोलन के नेताओं और कार्यकर्ताओं का शिकार कर रही है, मुख्यतः उन इलाकों में, जो माओवादी क्षेत्र घोषित किये गये हैं। जाजपुर जिले में सरकार नियामगिरी पहाड़ियों के इलाके को खाली करा रही है। यहाँ की जनता भी जीवन, जीविका और अपने पत्रिक देवस्थल नियामगिरी को बचाने के लिए संघर्ष कर रही है।

पिछले साल 1 जनवरी को जाजपुर जिले में पुलिस ने तथाकथित मुठभेड़ में 5 संदिग्ध माओवादी मार गिराये, जिनमें बलिंगोटा गाँव की एक 14 साल की बच्ची भी थी। इसी तरह 9 जनवरी 2011 को कोरापुट के लोगों को माओवादी बताकर मारा गया। जाँच में पता चला कि वे गाँव के गरीब लोग थे जो नियामगिरी में खनन का विरोध कर रहे थे।

पिछले सालों में पॉस्को और वेदान्त जैसे दैत्याकार बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ मिलकर सरकार द्वारा स्थानीय लोगों पर किये गये अत्याचार की अनगिनत घटनाएँ सामने आयी हैं। सरकार अपने ही देश की जनता को उसके जीवन के मूलभूत अधिकार से वंचित करने पर तुली है। जिस जमीन पर वे हजारों सालों से, तब से जब दुनिया में कहीं सरकारों और देशों का नाम तक नहीं था, रहते आये हैं। आज उन्हें कहा जा रहा है कि मुट्टीभर सिक्के लेकर यहाँ से दफा हो जाओ और अगर वे इसी देश के संविधान द्वारा दिये गये प्रतिरोध के अपने अधिकार का इस्तेमाल करते हैं तो उन पर लाठियाँ-गोलियाँ चलायी जाती हैं, उन्हें झूठे मुकद्दमों में फँसाकर जेल में डाल दिया जाता है, उनके रोजगार छीन लिये जाते हैं, माओवादी कहकर उनका कल्ल किया जाता है। क्या सरकार उनसे यह उम्मीद करती है कि उसके एक इशारे पर वे अपना घर, जंगल, जमीन छोड़कर कहीं गायब हो जायें।

सवाल यह है कि सरकार अपने ही देश की जनता के खिलाफ ऐसा व्यवहार क्यों कर रही है। केवल ओडीसा में ही नहीं, नंदीग्राम, सिंगूर, टप्पल, कुडानकुलम, पुणे, गोरखपुर (हरियाणा) सब जगह पूरे देश में उसका यही रवैया है। सरकार इस सबके लिए देश के विकास और विदेशी निवेश का तर्क दे रही है। क्या सरकार किसानों को खेती के उपकरण देकर,

सिंचाई के साधन उपलब्ध कराकर, स्थानीय स्तर पर छोटे-छोटे कारखाने लगाकर, स्कूल और अस्पताल बनाकर विकास नहीं कर सकती? क्या जगदीशपुर में स्टील प्लांट लगाकर पॉस्को स्थानीय जनता के घर बनायेगी या मुफ्त में इलाके के बच्चों को खिलौने और साइकिलें देगी। जो वेदान्त कुछ ही सालों में नियामगिरी पहाड़ी को समतल बना देगी, उसे क्या विकास कहेंगे? ये विदेशी कम्पनियाँ अपने कोरिया, अमरीका को छोड़कर भारत का विकास करने को क्यों बेचैन हैं। हमारे देश की सरकार जिसने आजादी के बाद के 60 सालों में वहाँ की जनता का विकास नहीं किया, वह अब विकास के लिए क्यों मरी जा रही है। जहाँ तक विदेशी निवेश की बात है, निवेश का अर्थ ही है कि कुछ पैसे लगाकर भारी मुनाफा वसूलना। अपने मुनाफे के लिये किया गया काम किसी का विकास नहीं कर सकता।

विदेशी साम्राज्यवादी लुटेरों के साथ मिलकर अपने ही देश की जनता को अपराधी घोषित कर देने और अपने देश की जनता को कुचलकर जन विरोधी, राष्ट्रविरोधी विकास का यह तरीका रोज-ब-रोज सरकार के चरित्र से पर्दा उठाता जा रहा है। आज सरकार को अपनी किसी भी नीति का लेश-मात्र विरोध भी स्वीकार्य नहीं है। लेकिन जमीन अधिग्रहण का एक भी मामला ऐसा नहीं है जहाँ उसे जनता के विरोध का सामना न करना पड़ा हो। जगदीशपुर की जनता भी इसी राह पर है। पॉस्को प्रतिरोध संग्राम समिति ने देश के सभी आजादी पसन्द, मानवाधिकारवादी, दलित और देशज लोगों के संगठनों, मछुआरों के संगठनों से एकजुट होकर अपनी जमीन पर हो रहे अतिक्रमणों का अपनी एकता से जबाव देने की अपील की है।

इतिहास गवाह है कि जब भी जनता ने एकजुट होकर संघर्ष किया है तो हर आताताई को मुँह की खानी पड़ी है और समाज आगे बढ़ा है। हमारा देश भी आज इतिहास के उसी मोड़ पर खड़ा है। एक सम्मानजनक अच्छी जिंदगी की कल्पना करने वाले हर इंसान का आज कर्तव्य है कि आने वाले हर संघर्ष में जनता का साथ दें। अगर हम ऐसा करते हैं तो कलिंग कभी नहीं हारेगा। □

एक निजी सेना के मुखिया की हत्या और बिहार का सच

-रजनीश उपाध्याय

एक जून को आरा शहर में रणवीर सेना के संस्थापक बरमेश्वर मुखिया की हत्या कर दी गयी। उस पर 33 नरसंहारों और 277 लोगों की हत्या का अभियोग था। बरमेश्वर किसी समय भोजपुर जिले के खोपिरा पंचायत का मुखिया हुआ करता था। इसी खूबी के चलते वह मरने के पहले और मरने के बाद भी बरमेश्वर सिंह के बजाय बरमेश्वर मुखिया या मुखिया जी के नाम से ही चर्चित रहा है। उसकी हत्या किसने की, यह अभी जाँच के दायरे में है। नीतीश सरकार ने हत्या की जाँच सीबीआई से कराने की सिफारिश की है। फिलहाल एसआईटी (स्पेशल इन्वेस्टिगेशन टीम) जाँच में लगी है, लेकिन अभी कुछ खास खुलासा नहीं कर पायी है।

मुखिया (बरमेश्वर मुखिया) के बारे में सच्चाई से भरे जिन तथ्यों को बिहार की तथाकथित सुशासन की सरकार ने उसके जिन्दा रहते ढँकने का प्रयास किया था, वह सच मुखिया की मौत के बाद नंगे रूप में सामने आ गया। मुखिया की हत्या के तत्काल बाद बिहार में जो कुछ हुआ, उसने सब कुछ सतह पर ला दिया।

बरमेश्वर मुखिया की हत्या एक जून की सुबह करीब साढ़े चार-पाँच बजे उस वक्त हुई, जब वह घर से टहलने निकला था। आरा के कतिरा मुहल्ले में उसके घर से करीब सौ मीटर की दूरी पर किसी अज्ञात व्यक्ति ने उसे गोली मार दी। हत्या के तुरन्त बाद आरा शहर में रणवीर सेना के समर्थकों ने जम कर उत्पात मचाया। बलवाइयों ने कई सरकारी कार्यालय फूँक दिये, आम नागरिकों को मारा-पीटा और कतिरा मुहल्ले में स्थित अम्बेडकर छात्रावास पर हमला किया। करीब एक माह तक छात्रावास में रहने वाले विद्यार्थी उन गुंडों के आतंक के मारे भागे-भागते फिरते रहे। डीजीपी अभयानंद जब उस उन्मादी भीड़ में शामिल लोगों को समझाने गये तो उनके साथ भी धक्का-मुक्की की गयी।

दूसरे दिन दो जून को उसकी शव यात्रा आरा से पटना के लिए निकली। सरकार ने न केवल इसकी इजाजत दी, बल्कि बिहार की सत्ता में साझीदार, भाजपा के प्रदेश अध्यक्ष डॉ. सीपी ठाकुर समेत कई विधायक और सांसद भी उसमें शामिल हुए। शव यात्रा क्या थी, एक तरह से लंपट गिरोह का बेलगाम शक्ति प्रदर्शन था। हाथों में लाठी-डंडा-हॉकी स्टिक और पेट्रोल-माचिस लिये मुखिया समर्थक अपने असली चरित्र का परिचय देते हुए पूरे रास्ते आगजनी और तोड़फोड़ करते रहे। आये-दिन जायज माँगों के लिए जुलूस में शामिल निहत्थी जनता पर अपनी लाठी-गोली का जोर दिखाने वाली पुलिस वहाँ से भाग खड़ी हुई। आम लोग दहशत से सारा नजारा देखते रहे। जनसंहारों के एक आरोपी की शव यात्रा एक जाति विशेष के लोगों का शक्ति प्रदर्शन बना। करीब पाँच घंटे तक

राजधानी पटना उनके रहमोकरम पर छोड़ दिया गया। बाद में डीजीपी का बयान आया कि पटना में कोई बड़ी घटना नहीं हुई, किसी की जान नहीं गयी। जिस समय पटना की सड़कों पर आतताइयों का यह नंगा नाच हो रहा था, मुख्यमंत्री नीतीश कुमार अपनी सेवा यात्रा के सिलसिले में भागलपुर के दौरे पर थे।

मुखिया ने रणवीर सेना का गठन 1995 में भोजपुर जिले के बेलाउर गाँव में किया था। तब भाकपा माले (तिबरेशन) ने भोजपुर जिले में गरीब भूमिहीन मजदूरों को गोलबंद किया था। जहानाबाद, गया जैसे जिलों में भी गरीब किसानों-खेत मजदूरों के बीच कुछ दूसरे नक्सलवादी संगठन सक्रिय थे जिनका जोर जनान्दोलन के बजाय वर्ग शत्रु के सफाये पर था। ऊँची जाति के भूस्वामियों के दबदबे के आगे ये संगठन चुनौती बन कर खड़े हुए थे। उसी जनउभार के खिलाफ मुखिया ने ऊँची जाति के लोगों को लेकर अपनी रणवीर सेना बनायी थी।

जिस रणवीर के नाम पर यह जातीय सेना बनी, उसकी कहानी भी कम दिलचस्प नहीं है। यह बिहार जैसे पिछड़े राज्य में जातीय टकराव और गोलबंदी का इतिहास समझने का एक सूत्र बन सकता है। किसी समय रणवीर नाम के एक फौजी (सेना के जवान) ने राजपूतों के कथित अत्याचार के खिलाफ भूमिहारों को गोलबंद किया था, क्योंकि तब भूमिहारों पर राजपूत भारी पड़ रहे थे। भूमिहार जाति के बीच रणवीर इतना लोकप्रिय हुआ कि वह एक मिथक बन गया। ठीक उसी तरह, जैसे बिहार और यूपी में यादवों के बीच किसी जमाने में लोरिक की ख्याति थी। बिडम्बना देखिये कि दो ऊँची जातियों के बीच मूँछ की लड़ाई में भूमिहार जाति के नायक रणवीर के नाम पर बनायी गयी इस प्रतिक्रियावादी निजी सेना को सभी ऊपरी जातियों का समर्थन था।

बरमेश्वर की अगुआई में मध्य बिहार में इस गिरोह ने सामंती अत्याचारों के खिलाफ उठ खड़े हुए दलितों, पिछड़ों, महिलाओं और मासूम बच्चों का नृशंसतापूर्वक खून बहाया। इसने पहला जनसंहार सरथुआ गाँव में किया, जिसमें मुसहर जाति के पाँच लोगों की हत्या कर दी गयी। कुछ ही दिनों के बाद लालू यादव की तत्कालीन सरकार ने रणवीर सेना को प्रतिबंधित कर दिया। लेकिन प्रतिबंध कागजी ही रहा, क्योंकि इसके बाद भी रणवीर सेना ने करीब 30 छोटे-बड़े जनसंहार किये। बरमेश्वर पर 277 लोगों की हत्या के आरोप थे। फरारी के दिनों में एक अखबार को दिये साक्षात्कार में उसने कहा था कि हम महिलाओं को इसलिए मारते हैं, क्योंकि वे नक्सलवादियों को जन्म देती हैं और दुधमुँहे बच्चों को इसलिए मारते हैं कि वे बड़े होकर नक्सली बनेंगे और हमें मारेंगे।

हत्या की राजनीति के लिए इस तरह के धिनौने तर्क गढ़ने वाला बरमेश्वर और उसकी रणवीर सेना यदि बिहार में एक दशक तक तांडव करती रही तो उसके पीछे वही ताकतें थीं, जो उसकी मौत के बाद नंगे रूप में सामने आ गयीं। ग्रामीण गरीबों के दमन के लिए रणवीर सेना को तमाम बुर्जुआ दलों के साथ-साथ नौकरशाही के एक हिस्से और नवधनाढ्यों का भी भरपूर समर्थन मिलता रहा है। तमाम पार्टियों के साथ उसका सम्बन्ध एक खुला रहस्य था, जिसके चलते राजनीतिक पार्टियों के साथ रणवीर सेना के संबंधों की जाँच के लिए न्यायमूर्ति अमीर दास की अध्यक्षता में एक आयोग का भी गठन किया गया। और यह भी शायद उस खुले रहस्य का ही नतीजा था कि उसकी रिपोर्ट आने से पहले ही उस आयोग को भंग कर दिया गया और राज को राज ही रह जाने दिया गया।

भाजपा के तमाम बड़े नेताओं और जद (यू) के कुछ नेताओं ने न केवल बरमेश्वर की मौत पर आँसू बहाये, बल्कि वे अब तक लोगों को बताते फिर रहे हैं कि बरमेश्वर जी किसान नेता थे। एक मंत्री ने तो आगे बढ़कर यहाँ तक कह दिया कि बरमेश्वर मुखिया गाँधीवादी थे। अखबारों ने लगातार 13 दिनों तक (हत्या से 13वीं तक) पहले पेज पर खबरें छाप कर बरमेश्वर का महिमामंडन किया। उनकी अच्छाइयों को खोज-खोज कर निकाला गया, मसलन, बरमेश्वर अपने झोले में रामायण और गीता रखते थे।

समय के साथ जो रणवीर सेना अप्रासंगिक हो चुकी थी, मुखिया की हत्या के बाद राजनीति, नौकरशाही और मीडिया के एक समूह की ओर से उसे फिर से महिमामंडित करने की कोशिश की जा रही है। यहाँ तक कि रणवीर सेना के उदय और इसके कारनामों को तार्किक जामा पहनाने की भी कोशिश हो रही। खतरा इस बात का भी है कि कहीं फिर से रणवीर सेना जैसी ताकतें गिरोहबंद न हो जायें। भाजपा व जद (यू) जैसी तमाम पार्टियाँ रणवीर सेना की मदद लेती रही हैं। भाजपा का तो यह परंपरागत वोट बैंक रहा है। दूसरी तरफ बिहार की राजनीति में परंपरागत वाम दल पहले से कमजोर हुए हैं, जबकि दूसरी तरफ सत्ता से संरक्षण के कारण सामंती ताकतों का मनोबल बढ़ा है। संसदीय राजनीति में उतरने के बाद भाजपा माले (लिबरेशन) की ताकत घटी है। आज उसका कोई विधायक या सांसद भी नहीं है। भोजपुर के जिन इलाकों में कभी उसका व्यापक जनाधार था, वह काफी कम हुआ है। यही कारण है कि कई गाँवों में रणवीर सेना के साथ स्थानीय स्तर पर माले समर्थकों ने समझौता भी किया।

1990 के बाद की जमीनी सच्चाइयाँ भी यहाँ ज्यों की त्यों नहीं हैं। बिहार में कृषि संकट भले ही गहरा रहा हो, गाँव में अमीरी-गरीबी के बीच खाई भले ही तेजी से चौड़ी हो रही हो, लेकिन सरकारी योजनाओं की एक बड़ी राशि पंचायतों के जरिये बिचौलियों के हाथों में जा रही है। नीतीश सरकार में सत्ता प्रतिष्ठानों पर जिन ऊँची जातियों का कब्जा है, वे सरकारी योजनाओं की दलाली से अपनी जेब भर रहे हैं। देश में सबसे ज्यादा विकास दर (करीब

14 फीसदी) को लेकर नीतीश सरकार वाहवाही लूट रही है, लेकिन सच्चाई यह है कि सरकारी योजनाओं के कारण निर्माण सेक्टर में जो तात्कालिक उछाल आया, यही विकास दर बढ़ाने का कारण भी है। लेकिन विकास दर का असर गरीबी उन्मूलन में नजर नहीं आ रहा, क्योंकि पैसा बाहरी कम्पनियाँ और बिचौलिये गड़प कर रहे हैं। अगले पाँच साल के लिए सरकार ने कृषि का नक्शा तैयार किया है, जिसमें करीब डेढ़ लाख करोड़ रुपये का निवेश होने वाला है। जानकार सवाल उठा रहे हैं कि रणवीर सेना जैसी ताकतों को अलगाव में डाले बगैर इस राशि को सही लोगों तक कैसे पहुँचाया जा सकता है?

बरमेश्वर की हत्या के कुछ दिनों पहले बथानी टोला जनसंघार के कातिलों का बरी हो जाना भी देश की न्याय प्रणाली का गरीबों के खिलाफ खड़े होने के आरोप को प्रमाणित करता है। पटना उच्च न्यायलय ने अप्रैल माह में सभी 23 मुजरिमों को बरी कर दिया, जबकि निचली अदालत ने उनमें से दो को फाँसी की सजा सुनायी थी। जब नीतीश सरकार पर चौतरफा दबाव बढ़ा तो उसने इस फैसले को सर्वोच्च न्यायलय में चुनौती दी। सरकार शायद ही इस मुकद्दमे की सही तरीके से पैरवी करे, क्योंकि सरकार में साझेदार भाजपा सर्वोच्च न्यायलय में अपील किये जाने का विरोध कर चुकी है।

इस रपट को अंतिम रूप दिये जाने के ही दिन, 12 जुलाई को आरा के दलित छात्रों ने अम्बेडकर छात्रावास आये बिहार अनुसूचित जाति आयोग के अध्यक्ष विद्यानंद विकल के मुँह पर कालिख पोत दी। गुस्साये छात्रों ने उनको जूतों की माला भी पहना दी। वे हमले के 42 दिन बीत जाने के बाद भी कोई कार्रवाई न होने से क्रुद्ध थे। हत्या के दिन आतताइयों ने दलित छात्रों के साथ मार-पीट की, छात्रावास में आग लगा दी थी जिसमें उनकी किताबें, प्रमाण पत्र और उनके जरूरी सामान जल गये थे। छात्रों का कहना है कि लगभग डेढ़ महीने बीत जाने के बाद भी सरकार की ओर से खोखले आश्वासन के सिवा कुछ नहीं मिला। उन्होंने घटना के विरोध में और प्रशासन की लापरवाही के खिलाफ 18 जून को आरा और 20 जून को पटना में प्रदर्शन किया। हर जगह से उन्हें आश्वासन मिला, लेकिन किसी तरह की सहायता देने और दोषियों के खिलाफ कार्रवाई करने की दिशा में कुछ नहीं हुआ।

छात्रों ने छात्रावास पर हमले के लिए जद(यू)-भाजपा के स्थानीय कार्यकर्ताओं को जिम्मेदार माना है। यही वजह है कि सरकार इन पार्टियों के दबाव के चलते कोई कार्रवाई नहीं कर रही है।

बरमेश्वर मुखिया की मौत बिहार के राजनीतिक पटल पर ढेर सारे सवाल छोड़ गयी, ढेर सारे रहस्यों से पर्दा उठा गयी, बहुतायत के चेहरे का मुखौटा नाँच गयी और खास तौर पर उन सामाजिक शक्तियों के सामने एक नयी चुनौती पेश कर गयी जिनके खिलाफ शोषकों-शासकों ने इस नराधम को अपनी भूमिका निभाने के लिए मुकर्रर किया था। □

भगाना गाँव (हिसार) के दलितों को दबंगों ने गाँव से निकाला

-राजेश/सतीश

हिसार जिले (हरियाणा) के भगाना गाँव से आये दलित और पिछड़ी जाति के सौ से भी अधिक लोग कई दिनों से दिल्ली के जन्तर-मन्तर पर धरना दे रहे हैं। गाँव की जाट बिरादरी ने पंचायत में फैसला ले कर लगभग डेढ़ महीने पहले इन परिवारों को गाँव छोड़ने पर मजबूर कर दिया था। चिलचिलाती धूप में नंगे बदन 6 दिन तक पैदल चलकर वे हिसार से दिल्ली पहुँचे। धरने पर बैठे ग्रामीणों ने बताया कि भगाना गाँव की 280 एकड़ शामिल (सरकारी) जमीन पर जाट बिरादरी के लोगों ने कब्जा कर लिया। यह जमीन पूरे गाँव की सम्पत्ति है। जब गाँव के दलित और पिछड़ी जातियों के लोगों ने इसका विरोध किया तो जाटों ने उनका जीना दूभर कर दिया। उनका रास्ता और बिजली पानी बन्द कर दिया। गाँव से शहर को जाने वाले यातायात के साधनों में उनके बैठने पर पाबन्दी लगा दी। उनकी बहू-बेटियों के साथ बदसलूकी की और गाँव से 125 दलित-पिछड़े परिवारों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया। दलितों के विरोध के बाद जाटों ने पंचायत भवन के आगे 6 फीट ऊँची दीवार खड़ी करके उसके सामने की 300 गज जमीन पर भी कब्जा कर लिया। धरने पर बैठे गाँव के एक व्यक्ति ने बताया की जाट पंचायत ने यह तय किया है कि अगर कोई व्यक्ति बहिष्कृत लोगों से बात करता हुआ पाया गया तो उसे 11,000 रुपये का जुर्माना भरना पड़ेगा।

जब दमन और उत्पीड़न बढ़ता गया और गाँव में रहना मुश्किल हो गया तो इन 125 परिवारों ने औरतों, बच्चों और पालतू जानवरों समेत गाँव छोड़ दिया और हिसार उपायुक्त (डीसी) कार्यालय पर धरने पर बैठ गये। 40 दिनों तक धरना देने के बावजूद प्रशासन के कानों पर जूँ नहीं रेंगा। और तो और, उनको धरने से हटाने के लिये प्रशासन ने तरह-तरह के हथकण्डे अपनाये। हुड्डा सरकार में मंत्री शैलजा ने जो खुद भी दलित हैं, इस मामले में किनारा कस लिया। लोगों ने बताया कि पक्ष-विपक्ष का कोई भी नेता, चाहे वह किसी भी पार्टी का या जाति का हो अभी तक उनकी मदद के लिये आगे नहीं आया। नेताओं ने उन्हें आन्दोलन वापस लेने और समझौता करके जीने की सलाह दी। गाँव के लोगों का कहना है कि इन

दबंगों को कुछ भी करने की सरकार से छूट मिली हुई है।

ग्रामीणों ने जब घटना के विरोध में मुख्यमंत्री का पुतला फूँका तो पुलिस ने राजद्रोह के आरोप में 6 लोगों को गिरफ्तार कर लिया। गौरतलब है कि हरियाणा में कई अरसे से जाट आरक्षण के लिये आन्दोलन कर रहे हैं। इस दौरान जाटों ने कई दिनों तक रेल यातायात भी ठप कर दिया था। उन्होंने उस दौरान भगाना गाँव से सम्बन्धित पुलिस चौकी को दो बार फूँक दिया, पर उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की गयी। देश में आये दिन प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री और जाने-माने लोगों के पुतले फूँके जाते हैं, पर शायद ही इसे देशद्रोह माना जाता हो। जाहिर है कि दलित-शोषित होना ही उनका सबसे बड़ा गुनाह है।

हिसार में 40 दिन के धरने के बाद जब हुड्डा सरकार से इनकी उम्मीदें टूट गयीं तो लोगों ने दिल्ली में आकर धरना देने की ठानी। जून की भीषण गर्मी में जब लोग कूलर और एसी छोड़कर बाहर निकलने को तैयार नहीं थे, तब भगाना के ग्रामीण उस तपती और बदन सुखा देने वाली धूप में अर्धनग्न होकर 6 दिन की पैदल यात्रा के बाद हिसार से दिल्ली पहुँचे। काफी मसक्कत के बाद उन्हें जन्तर-मन्तर पर धरने की इजाजत मिली। खबर लिखे जाने तक धरना देते चार दिन बीत गये, लेकिन सरकार ने अभी तक उनकी सुध नहीं ली। जो मीडिया 'स्वर्ग की सीढ़ी', 'अभिनेत्री को चाँद दिखा' और नेताओं के जनम-मरण को घण्टों कवरेज करता है, उसे भगाना के इन सताये गये लोगों की समस्याओं और बेअसर विरोध प्रदर्शन से कोई लेना-देना नहीं। इक्के-दुक्के अखबारों को छोड़ कर किसी को भी उनका हाल जानने की फुर्सत नहीं।

देश का संविधान सभी नागरिकों की समानता की बात करता है, लेकिन आजादी के 65 सालों बाद भी दलितों की क्या हालत है, इसका ताजा उदाहरण है भगाना के दलितों की यह दास्तान। धरने पर बैठे एक दलित युवक ने दिल-दहला देने वाली बात कही "दबंग जाति के लोग हमें 'मानव' भी समझते हैं या नहीं।"

राजधानी दिल्ली में सभी दलित संगठनों के प्रतिनिधियों का डेरा है। लेकिन जाति विरोधी आन्दोलन और कुछ अन्य

छोटे संगठनों को छोड़कर किसी ने उनका साथ नहीं दिया। इन संगठनों ने अपनी सीमित ताकत के अनुरूप हरियाणा भवन पर प्रदर्शन और ज्ञापन तथा अन्य सहयोग भी दिया। लेकिन हफ्तों बीत जाने के बाद भी उनकी किसी ने सुध नहीं ली।

आजादी के बाद देश में पूँजीवादी विकास के कारण दलितों को सामन्ती बेड़ियों को तोड़ने के कुछ अवसर मिले हैं। भगाना गाँव का ही उदाहरण लें, वहाँ कुछ लोग गाड़ी मरम्मत, पशुपालन और कई दूसरे छोटे-मोटे काम करके सामन्ती बेड़ियों से एक हद तक आजाद हुए हैं। इससे उनमें स्वाभिमान की भावना बढ़ी है। इसीलिए अब वे ऊँची जातियों के शोषण-उत्पीड़न को सहन करने से इन्कार कर रहे हैं और अपने हक के लिये आवाज उठाने लगे हैं। वे समाज में बराबरी की हैसियत के लिए आवाज बुलन्द कर रहे हैं। इससे ऊँची जाति के दबंगों के सदियों से चले आ रहे सामाजिक वर्चस्व पर संकट छाने लगा है। दलितों के प्रति आक्रामकता और हिंसा की बढ़ती घटनाओं का यही कारण है।

दुनिया में जहाँ भी पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति हुई उसने वहाँ की सड़ी-गली सामन्ती मूल्य-मान्यताओं को अपनी आग से जला कर खाक कर दिया था। लेकिन हमारे देश में स्वस्थ पूँजीवाद नहीं आया। जिस तरह का पूँजीवाद यहाँ पनपा, उसने अपने हित के लिये यहाँ की सामन्ती मूल्य मान्यताओं से समझौता कर लिया। सामन्ती गलाजत और पूँजीवादी बुराइयों का यह मेल कोढ़ में खाज की तरह है। संकट के इस दौर में पूँजीवाद आज भी अपने बचाव के लिये जातिवाद के जरासीम को फैला रहा है। जातिवाद आज इस पूँजीवादी व्यवस्था के लिये सुरक्षा कवच का काम कर रहा है। इसका खात्मा पूँजीवादी व्यवस्था के खालों के साथ ही सम्भव है। अब तो वह संविधान प्रदत्त कानूनी राहत देने से भी कतरा रहा है। भगाना गाँव के दलितों की न्यायपूर्ण माँगों और शान्तिपूर्ण आन्दोलन को शासन-प्रशासन द्वारा नजरअन्दाज किया जाना इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। एक व्यापक जनान्दोलन ही इस भेदभाव और अन्याय को समाप्त कर सकता है। □

बिजली की कीमतों में बढ़ोत्तरी

-अमरपाल

दिल्ली में बिजली की कीमत बढ़ाये जाने पर मुख्यमंत्री शीला दीक्षित ने कहा कि “अगर आप सोचते हैं कि बिजली की कीमतें वही रहेंगी, जो दस साल पहले थीं, तो यह सम्भव नहीं है। जून की शुरुआत में ही दरों की घोषणा हो जानी चाहिए।”

मुख्यमंत्री शीला दीक्षित का इस अंदाज में धमकाना और बिजली की बढ़ी हुई दरें जल्दी लागू करने का आदेश देना क्या बताता है? क्या ऐसा निष्ठुर बयान और बिजली की कीमतें बढ़ाने में इतनी जल्दीबाजी कोई जन-हितैषी सरकार कर सकती है?

पानी की आपूर्ति निजी कम्पनियों को सौंपना, क्या दिल्ली की आम जनता से पानी छीन लेने की साजिश नहीं है! उनका कहना है कि बिजली की जो कीमत दस साल पहले थी, उतनी ही नहीं रहेगी, लेकिन सच्चाई क्या है? दस साल की तो बात ही क्या, अगर हम पिछले दस महीनों पर ही नजर डालें तो हमारी आँखें खुली की खुली रह जायेंगी। पिछले दस महीनों में बिजली की कीमत चार बार बढ़ाई गयी। जुलाई 2012 से 26 फीसदी की बढ़ोत्तरी के पहले, अगस्त 2011 में 22

फीसदी की, फरवरी 2011 में 5 फीसदी की और मई 2012 में 2 फीसदी की बढ़ोत्तरी की गयी। साथ ही ईंधन सरचार्ज भी मनमाने तरीके से बढ़ाया गया। जनवरी 2012 में सात फीसदी ईंधन सरचार्ज लगाया गया, वहीं अप्रैल 2012 में इसे चार फीसदी से लेकर चौदह फीसदी तक कर दिया गया। आगे भी उपभोक्ताओं को हर बिल पर आठ फीसदी सरचार्ज का भुगतान करना होगा।

सवाल तो यह भी है कि दस साल पहले जनता की जो हालत थी क्या आज भी वही है? पिछले दस सालों में इस सरकार ने महँगाई के चलते जनता की कमर तोड़ दी, वहीं दूसरी ओर जनता की वास्तविक आमदनी लगातार कम होती गयी और ऊपर से पिछले दस महीनों में बिजली की कीमत साठ-पैंसठ फीसदी बढ़ाकर सरकार ने जनता को जीते-जी मार देने का इंतजाम कर दिया।

निजी कम्पनियाँ लगातार घाटे में रहने का रोना रोती हैं। यह बिजली की कीमत बढ़ाने और सरकारी राहत पैकेज लेने का एक बहाना है। सरकार इस साजिश में पूरी तरह से शामिल

है। साल 2002 में निजीकरण के समय दिल्ली की तीन निजी बिजली कम्पनियों को सरकार ने फौरी राहत के रूप में 3,450 करोड़ रुपये की सहायता की थी। दिल्ली विद्युत बोर्ड की 10,000 करोड़ रुपये से भी अधिक की सम्पत्तियाँ मात्र एक रुपये सालाना की लीज पर इन कम्पनियों को बतौर तोहफा दे दी थी।

उच्च न्यायालय ने आदेश दिया था कि सरकार इन निजी कम्पनियों के खातों की जाँच नियंत्रक महालेखा परीक्षक (कैग) से करवाये। दिल्ली सरकार के मंत्रिमण्डल में जाँच करने का प्रस्ताव भी पारित हुआ। लेकिन जाँच अब तक नहीं हुई। उल्टे बीएसईएस को जनवरी में 500 करोड़ का सरकारी राहत पैकेज दिया गया और अगले ही महीने इन कम्पनियों के घाटे की पूर्ति के नाम पर पाँच फीसदी कीमत बढ़ायी गयी। फिर भी इनका घाटा कम होने का नाम नहीं ले रहा है। दरअसल सच्चाई कुछ और ही है। दिल्ली विद्युत नियामक आयोग (डीईआरसी) के पूर्व अध्यक्ष बिजेंद्र सिंह ने कम्पनियों के बही खातों में पाया था कि वे 5,200 करोड़ रुपये के फायदे में हैं। इसी को ध्यान में रखकर उन्होंने बिजली की कीमत 20 फीसदी कम करने की सलाह दी थी। उनकी इस सलाह को मुख्यमंत्री शीला दीक्षित ने कोई तवज्जो नहीं दी और उल्टे उनके रिटायर होते ही नये चेयरमैन ने 26 अगस्त, 2011 को बिजली की कीमत 22 फीसदी बढ़ा दी। इन निजी कम्पनियों का बिजली दर बढ़ाने का सिलसिला लगातार जारी है और राहत पैकेज की मलाई ऊपर से।

बिजली कम्पनियों पर अंकुश रखने तथा जनता का हित देखने के लिये डीईआरसी का गठन किया गया। क्या उसने बिजली कम्पनियों पर अंकुश लगाया? क्या उसने जनता का हित देखा? कम्पनियाँ अपने 5,200 करोड़ के शुद्ध लाभ के बावजूद बिलों में बढ़ोत्तरी कर रही हैं। क्या यही जनता की सरकार है? जनता की हमदर्द दिल्ली की मुख्यमंत्री ने दरियादिली दिखाते हुए जनता को 200 यूनिट तक की सीमा पर एक रुपये प्रति यूनिट तक की भारी छूट दी है। शीला जी ने कहा है कि प्रतिमाह 200 यूनिट बिजली में दो पंखे बीस घंटे, दो ट्यूब लाइट छह घंटे, एक टीवी चार घंटे, एक फ्रिज पूरे दिन और एक टुल्लू पम्प एक घंटे चलने के लिए काफी है। यानी आप वाशिंग मशीन में कपड़े मत धुलना, भयानक गर्मी में कूलर मत चलाना, कपड़ों पर प्रेस मत करना, रसोई में एग्जास्ट पंखा मत लगाना, चाहे धुँए में दम निकल जाये, तभी आप एक रुपये

प्रति यूनिट की छूट पा सकते हैं और अगर 200 यूनिट से एक यूनिट भी आगे गया तो आप इस छूट को गँवा देंगे और ऊँचे दर पर बिल चुकायेंगे। आखिर यह मजाक हमारे साथ कब तक चलता रहेगा। जो सुझाव जनता के लिए हैं, क्या शीला जी उन्हें एक दिन के लिए भी अपने ऊपर लागू करेंगी?

भाजपा बिजली-पानी के निजीकरण का विरोध करके जनता के गुस्से को अपने स्वार्थ में इस्तेमाल कर रही है। भाजपा प्रदेश अध्यक्ष का कहना है कि “पानी का निजीकरण नहीं होने देंगे” जबकि खुद ही वे कहते हैं कि सोनिया विहार और अन्य चार सयंत्रों का निजीकरण कर दिया गया है। दूसरी ओर विजय गोयल का बयान है कि वे पानी के निजीकरण के खिलाफ नहीं हैं। (देखिये जनसत्ता 5 जुलाई, 2012 पेज -3) दरअसल इनके विरोध का मकसद सिर्फ वोट पाकर सत्ता में आना है। क्या कोई भी पार्टी दिल से महँगाई कम करना चाहती है? हम जानते हैं कि सभी पार्टियाँ अपने-अपने राज्यों में निजीकरण की नीतियाँ लागू कर रही हैं और पूरी तरह से भ्रष्टाचार में लिप्त हैं। जहाँ जिस पार्टी की सत्ता है क्या वहाँ पर उसने महँगाई कम कर दी है?

हमें यह समझना होगा कि हर चीज की बेहिसाब बढ़ती कीमतों की असल वजह क्या है। आज सभी पार्टियों की नीतियाँ एक ही हैं। बात सिर्फ दिल्ली की ही नहीं है, सारे देश की स्थिति एक जैसी है। नयी आर्थिक नीतियों के चलते आज पूरे देश को देशी-विदेशी मुनाफाखोरों की लूट-खसोट के लिए खुला छोड़ दिया गया है। जनता की सम्पत्ति को कौड़ियों के दाम देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हाथ बेचा जा रहा है जिसके चलते पेट्रोल-डीजल, गैस, पानी, खाद्य-पदार्थ, शिक्षा, चिकित्सा, बिजली जैसी सभी वस्तुओं और सेवाओं पर निजी मुनाफाखोर कम्पनियों का कब्जा है और वे लगातार चीजों के दाम बढ़ा रहे हैं। जनता का जीना मुश्किल होता जा रहा है। केंद्र और राज्यों की सभी सरकारें उनकी इस लूट-पाट में पूरी तरह साथ दे रही हैं। फिर भला हम इन रंग-बिरंगी पार्टियों से क्या उम्मीद करें? ऐसे में देश के नौजवानों को इन जनविरोधी नीतियों को समझ कर उनका पर्दाफाश करना होगा और उनके खिलाफ आवाज उठानी होगी। □

दिमागी बुखार : बच्चों को या व्यवस्था को

-डॉ. नवनीत किशोर

हर साल की तरह इस साल भी देश के कई राज्यों में मासूम बच्चे एक-एक करके दिमागी बुखार की चपेट में आकर दम तोड़ रहे हैं। बिहार, उत्तर प्रदेश और असम के कई जिलों के मासूम बच्चे दिमागी बुखार के कारण मौत को गले लगा चुके हैं, दुःखद यह है कि ये सिलसिला रुकने का नाम नहीं ले रहा है।

बिहार के अपर स्वास्थ्य सचिव के अनुसार अब तक लगभग 600 बच्चे दिमागी बुखार की चपेट में आ चुके हैं तथा इनमें से 233 मौत की नींद सो चुके हैं। सभी मामले बिहार के 10 जिलों के हैं। कुल मौतों में से 163 मौतें अकेले जिला मुजफ्फरपुर में हुई हैं, बाकि ज्यादातर पटना और गया जिलों में हुई हैं।

असम में कुल 50 बच्चों की मौत हो चुकी है। अकेले सिवसागर जिले में 22 मौतें हो चुकी हैं। असम के अन्य प्रभावित जिले डुबरी, मोरीगाँव, दारंग व नालवाड़ी हैं।

एक साथ इतने सारे मासूम बच्चों की मौतें दिल को दहलाती तो हैं ही, साथ ही कई सारे सवाल भी खड़े करती हैं

1. क्या इतनी सारी मौतों को रोका जा सकता था।
2. क्या नैनो टेक्नोलॉजी और गॉड पार्टीकल की खोज करने वाला विज्ञान इसके समाधान में असमर्थ है।
3. क्या दिमागी बुखार से मुक्ति पाना मानवीय सीमाओं से परे है।

जवाब है नहीं, कतई नहीं।

आज का विज्ञान इस बिमारी के फैलने के कारणों और उसे रोकने के तरीकों से अच्छी तरह वाकिफ है। विज्ञान के पास इस बिमारी से लड़ने के पर्याप्त हथियार भी हैं। हमारे पास इस बिमारी की समझ तो पर्याप्त है, लेकिन कमी कुछ है तो इसे व्यापक पैमाने पर लागू करने की इच्छाशक्ति की है, जिसका इस व्यवस्था के हृदयहीन संचालकों में नितान्त अभाव है।

आज वैज्ञानिकों ने इस बिमारी से बचने के लिए टीका तो विकसित कर लिया है, लेकिन आम जनता की आर्थिक-सामाजिक हैसियत और सरकारी पहलकदमी के अभाव में यह टीका आम जन तक समय पर नहीं पहुँच पाता। पिछले साल असम में टीकाकरण के माध्यम से जनता के पास यह

टीका पहुँचाने का प्रयास तो किया गया, लेकिन यह प्रयास भी आधे-अधूरे ही। बिहार और उत्तर प्रदेश में तो ऐसा कोई नाममात्र का दिखावा भी नहीं किया गया। ध्यान देने लायक बात यह है कि चीन, जापान, कोरिया, ताईवान, वियतनाम और कम्बोडिया आदि देशों में इसी टीके के दम पर दिमागी बुखार को बहुत हद तक नियंत्रित किया गया है। आपात स्थिति में बच्चों व सुअरों का टीकाकरण करना नितान्त आवश्यक होता है। गौरतलब है कि यह बिमारी मुख्यतः गरीब तबके के बच्चों को ही प्रभावित करती है, जो लोग इस टीके का खर्च वहन नहीं कर सकते हैं।

यह काम बिना सरकारी प्रयास के असम्भवप्राय है। हमारी सरकार के पास 100 पूँजीपतियों को बचाने के लिए 5 लाख करोड़ से ज्यादा रुपये तो हैं, लेकिन गरीब जनता को देने के नाम पर सरकार छाती पीट-पीट कर खुद को दिवालिया बताती है।

यह बिमारी क्यूलैक्स नामक मच्छर से फैलती है। जब वे मच्छर संक्रमित सुअर को काटते हैं तो स्वयं संक्रमित होकर किसी भी व्यक्ति को काटकर उसे संक्रमित कर देते हैं। एक बार बिमारी होने पर इसका ईलाज बेहद मुश्किल होता है, लेकिन इससे बचाव करना तथा फैलने से रोकना कठिन नहीं है।

इस बिमारी को फैलने से दो तरीकों से रोका जा सकता है। पहला, मच्छर के काटने से बचाव के द्वारा और दूसरा, मच्छर व उसके अण्डों को नष्ट करके।

जल जमाव को रोक कर मच्छरों के पनपने के स्थानों को नष्ट किया जा सकता है, लेकिन चप्पे-चप्पे पर जाकर जल भराव को सरकार स्वयं नहीं पाट सकती है और जो व्यवस्था आम जन तक शिक्षा नहीं पहुँचा पायी, वह जटिल बिमारियों से लड़ने की जागृति और चेतना कहाँ से दे सकती है।

प्रभावित क्षेत्रों में समय रहते बड़े पैमाने पर फॉगिंग व अन्य दवाओं का छिड़काव किया जाना चाहिए। मगर आपदा आने के बाद ही सरकार की नींद टूटती है, तब तक काफी देर हो चुकी होती है। चूँकि यह मच्छर घरों के बाहर खेतों और गड्ढों में पनपता है, तो महामारी की स्थिति से हैलीकॉप्टर आदि

से भी छिड़काव किया जाना चाहिए, लेकिन हमारे देश में हैलीकॉप्टर से नेताओं की सेन्डिल लाने का खर्च तो वहन किया जा सकता है, गरीब बच्चों को बचाने के नाम पर यह कार्यक्रम बेहद खर्चीला हो जाता है।

सुअरों के बाड़े की 2 किमी की परिधि में फॉगिंग नितान्त आवश्यक होती है। संक्रमित सुअरों के मालिकों को उचित मुआवजा देने के बाद सुअरों को नष्ट किया जाना चाहिये, लेकिन मुआवजा (बेल आउट पैकेज) तो हमारे देश में सिर्फ उद्योगपतियों को ही दिया जाता है।

मच्छरों से निजी सुरक्षा के लिए ऊँचे जूते, पूरे तन को ढकने वाले कपड़े, मच्छररोधी उपकरण (और मच्छर भगाने वाले साधन) का प्रयोग करना चाहिए। महामारी फैलने के समय तो सरकार दवायुक्त मच्छरदानी भी सर्वजन को वितरित करती है कागजों में ही सही।

विज्ञान कहता है कि सूअर पालन में लगे लोगों को व उनके परिवार के लोगों को ऊँचे जूते, मास्क, चश्मा, पूरे बदन को ढकने वाले कपड़े पहन कर रखना चाहिए। यह तो इस देश का बच्चा भी जानता है कि कम आर्थिक हैसियत वाले लोगों को इस तरह का सुझाव देना भी उनका मजाक उड़ाना ही है।

कुल मिलाकर इस बिमारी का महत्त्व वैज्ञानिक कम, आर्थिक व सामाजिक अधिक है। यह बिमारी गरीब लोगों को सबसे अधिक प्रभावित करती है, इसलिए व्यवस्था के नुमाइन्दे इससे प्रायः मुँह मोड़े रहते हैं। दिल्ली में डेंगू और स्वाइन फ्लू पर जितना बवाल मचता है और जितनी मुस्तेदी दिखायी जाती है, वह इन मासूमों की मौत पर कहीं नजर नहीं आती। मुम्बई के 5 सितारा होटल में आंतकी हमले में चन्द अमीरजादे हताहत हुए तो आंतकवाद देश की सबसे बड़ी समस्या बन गया, जबकि हर साल हजारों की संख्या में दिमागी बुखार से गरीब बच्चों के मरने के बावजूद यह देश की कोई खास बड़ी समस्या नहीं है। चूँकि यह समस्या सामाजिक, आर्थिक विषमता की जमीन पर ही पनपती है इस गैरबराबरी को समाप्त किये बिना इस समस्या और ऐसी ही अन्य समस्याओं का भी समाधान असम्भव है।

यह समझना आवश्यक है कि सामाजिक गैरबराबरी की जड़ भी आर्थिक गैरबराबरी में होती है। गैरबराबरी वाले समाज में प्रभुत्वहीन वर्ग की उपेक्षा होना लाजमी है। दिमागी बुखार के अलावा निचले तबके में फैलने वाली अन्य सभी बिमारियों के खिलाफ संघर्ष इस गैरबराबरी वाली व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष का ही एक जरूरी हिस्सा है। □

कविता

जापानी बुखार

-गणेश पाण्डेय

हे बाबा
किसका है यह
जो अभी - अभी था
और इस क्षण नहीं है
जिसके मुखड़े के बिल्कुल पास
बिलख रहे हैं परिजन और स्वजन
राहुल-राहुल कह कर
किसका है यह नन्हा-सा
राजकुमार
जिसे अपनी छाती से लगाये
चूमती जा रही है बेतहाशा
एक लुटी-लुटी सी बदहवास युवा स्त्री
जिसकी पथराई आँखों से झर रहे हैं
आँसू
झर-झर-झर

कौन है यह
अटूट विलाप करती हुई
अभागी कोमलांगी
जिसे अड़ोस-पड़ोस की बुजुर्ग औरतें
चुप करा रही हैं-
यशोधरा-यशोधरा कह कर
यह किसकी यशोधरा है बाबा
किसका है राहुल यह
तुमसे क्या नाता है

पिपरहवा के किसी सिधई अहीर
और गनवरिया के किसी बुधई कोंहार से
इस कालकथा का क्या रिश्ता है
कितने राहुल हैं बाबा
कितनी यशोधरा
ढाई हजार साल बाद
यह कैसी पटकथा लिख रहा है
काल

कपिलवस्तु के एक-एक गाँव में
कपिलवस्तु के बाहर गाँव-गाँव में
फूस की झोपड़ियों
और खपरैल के कच्चे-पक्के मकानों में
इक्कीसवीं सदी के एक-एक राहुल को
चुन-चुन कर
कैसे डँस लेता है काल
मच्छर का रूप धर कर

क्या पहले भी मच्छर के काटने से
मर जाते थे कपिलवस्तु के लोग
क्या पहले भी धान के सबसे अच्छे
खेतों में
छिपे रहते थे जहरीले मच्छर
और देखते ही फूल जैसे बच्चों को
डँस लेते थे ऐसे ही
जापानी बुखार-जापानी बुखार
कह-कह कर

हमारे पुरखों के पुरखों के पुरखे
शालवन और पीपल के पेड़ वाले बाबा
आज भी जिस जापान में बजता है
तुम्हारे नाम का डंका
सीधे वहीं से फाट पड़ी है यह महामारी
तीर्थों के तीर्थ बुद्ध प्रदेश में
पूर्वी उत्तर प्रदेश में
शोक में डूबी हुई है
यह विदीर्ण धरती
जहाँ-जहाँ पड़े हैं
तुम्हारे चरणकमल
श्रावस्ती हो या मगध
कपिलवस्तु हो या कोसल
लुम्बिनी हो या कुशीनारा
या हो सारनाथ
हर जगह है तुम्हारा राहुल
अनाथ

आमी हो या राप्ती
सरयू हो या गंगा या कोई और
जिन-जिन नदियों ने छुए हैं

तुम्हारे पाँव
डबडब हैं यशोधरा के आँसुओं की
बाढ़ से
देखो तो कैसे कम पड़ गया है
तुम्हारी करुणा का पाट

तुम्हीं बताओ बाबा
क्या
मेरी माँ यशोधरा
मेरी चाची यशोधरा
मेरी बुआ यशोधरा
मेरी दादी
मेरी परदादी की परदादी
यशोधरा के असमाप्त रुदन से
जीवित हैं इस अंचल की नदियाँ
क्यों नहीं सूख जाती हैं ये नदियाँ
क्यों नहीं खत्म हो जाता है
राहुल की चिन्ता न करने वाला
राजपाट

क्यों नहीं हो जाता सिंहासन को
जापानी बुखार
बोलो बाबा
कुछ तो बोलो
हे मेरे अच्छे बाबा कुछ तो नया बोलो
यशोधरा के महादुख पर रोशनी डालो
आलोकित करो पथ

क्या गोरखपुर क्या देवरिया
और क्या महराजगंज
क्या सिद्धार्थनगर
क्या अड़ोस-पड़ोस के जनपद
क्या पड़ोस के बिहार के गाँव-गिराँव
और क्या नेपाल बार्डर-अन्दर
हर जगह पसरा हुआ है
मौत का सन्नाटा
और डर
घर-घर में कर गया है घर

किसी
नयी-नयी हुई माँ से

उसे रह-रह कर पुकारती हुई
उसकी नटखट पुकार को
छीन लेना
सहसा
किसी
पिता की डबडब आँख से
उसके चाँद-तारे को
अलग कर देना
किसी मासूम तितली से
एक झटके में
उसके पंख नोच लेना
और गेंदा और गुलाब से
उसकी पंखुड़ियों को लूटकर
मसल देना
किसी कविता का अंत है
कि जीवन की अवांछित विपदा
कि सभ्यता का कोई अनिवार्य शोकगीत
बोलो बाबा
क्या है यह

जापानी बुखार है तो यहाँ क्यों है
क्यों पसंद है इसे सबसे अधिक
इसके फदेनुमा पंजे में
गिरई मछली की तरह तड़प-तड़प कर
शांत हो जाने वाले
इस अंचल के विपन्न, हतभाग्य
और दुधमुँहे
यह कोई बुखार है
बुखार है तो उतरता क्यों नहीं
महामारी है महामारी
नयी महामारी
सबसे ज्यादा नये पौधों को
धरती से विलग करने वाली
मौत की तेज आँधी है
बुझाये हैं जिसने
इस अंचल के
हजारों नन्हें कुलदीप

कहाँ हैं मर्द सब
बेबस

और विलाप करती हुई माँओं की गोद
 शिशु शवों से पाट देने वाला
 हत्यारा जापानी बुखार
 बचा हुआ है कैसे अबतक
 कहाँ है पुलिस
 और कहाँ है सेना
 क्यों नहीं करती इसे गिरिफ्तार
 जिंदा या मुर्दा
 कोई विपक्ष है
 है तो क्यों नहीं माँगता
 जीने के अधिकार की गारंटी
 कोई सरकार है कहीं
 है तो कहाँ है
 आये हाईकमान
 कोई भारी-भरकम मंत्री-सत्री
 कोई राजधानी का पत्रकार आये
 और
 टीवी पर जिंदगी की दो बूँद देने वाले
 महानायक को पकड़कर लाये

कोई तो बतलाये-
 जापान में एटमबम से
 कितने शिशुओं की आंखें हुई बंद
 वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हुए हमले में
 मारे गये कितने अमरीकी
 आखिर कितना है अभी यहाँ कम

आने से कतराता है
 सरकार का मुखिया
 करता है वक्त का इंतजार
 और हिसाब-किताब
 अस्पतालों और सेहत का महकमा
 पता नहीं किस अहमक के जिम्मे है
 क्या शहर और क्या देहात
 क्या धान के खेत
 और क्या गट्टे का पानी
 किस सूअर
 और किस मच्छर की बात करें
 हर कोने-अंतरे में बठी हुई है मौत

सफेद लिबास में
 एक कहता है
 हेलीकॉप्टर में बैठकर
 अपने नुकीले नाखूनों वाले पंजे से
 छिड़केंगे दवा
 गांव-खेत, ताल-पोखर
 चल चुकी है राजधानी से
 दवा लगी मच्छरदानियों की भारी खेप
 हर मुश्किल में आपके साथ है
 एक खानदानी पंजा
 दूसरा
 पहले शंख बजाता है फिर गाल-
 बुखार जापानी हो या पाकिस्तानी
 मार भगायेंगे
 मर्ज कैसा भी हो
 काफी है छूमंतर होने के लिए
 कमल की पंखुड़ियों से बनी
 एक गोली

तीसरा आता है बाद में
 रहता है सरकार में मगन
 कहता है कुछ करता है कुछ
 मिनट-मिनट पर सोचता है
 नफा-नुकसान
 क्या खूब फबती है
 उसकी दस लाख की गाड़ी पर
 हरे और लाल रंग के मखमल जैसे
 छोटे से झण्डे में कढ़ी हुई
 सुनहली साइकिल
 जिसके पास खड़ा होकर
 किसी पुराने दर्द भरे गाने की तरह
 कहता है-
 जो हुआ उसके लिए बेहद अफसोस है
 टीके और दवा का करते हैं इंतजाम
 लीजिए फौरन से पेश्वर
 ले आया हूँ आठ करोड़
 बस पकड़े रहें
 साइकिल की मूठ

आते हैं एक से बढ़कर एक
 हाथी नहीं आता
 मुमकिन है कभी आये हाथी
 गिरते-पड़ते
 चाहे हाथी के हौदे पर आये
 कोई गुस्सैल
 चिंघाड़ते हुए-
 नहीं-नहीं, यह नहीं जापानी बुखार
 न इंसेफेलाइटिस न मस्तिष्क ज्वर
 यह तो है सीधे-सीधे
 मनुवादी बुखार
 कमजोर तबके पर है जिसकी ज्यादा मार

कोई नहीं आता ऐसा
 कोई वैद्य कोई डाक्टर
 कोई लेखक कोई कलावंत
 जीवन का कोई इंजीनियर
 कोई पथ-प्रदर्शक
 कोई माई का लाल
 माई से कहने-
 घबड़ाओ नहीं माई
 लो
 मेरी त्वचा की रूमाल से
 पोंछ लो अपने आँसू
 हर पंजे से बचायेंगे
 बचायेंगे कमल से
 साइकिल से बचायेंगे
 बचायेंगे हाथी से
 शर्तिया बचायेंगे माई
 इस भगोड़े जापानी बुखार से
 सूअर से बचायेंगे
 बचायेंगे मच्छर से
 सबसे बचायेंगे
 माई।

□

मैं अफसाना 'क्यों कर' लिखता हूँ?

-सआदत हसन मंटो

मुझसे कहा गया है कि मैं यह बताऊँ कि मैं अफसाना क्यों कर लिखता हूँ? यह 'क्यों कर' मेरी समझ में नहीं आया। 'क्यों कर' का अर्थ शब्दकोश में तो यह मिलता है - कैसे और किस तरह?

अब आपको क्या बताऊँ कि मैं अफसाना क्यों कर लिखता हूँ। यह बड़ी उलझन की बात है। अगर मैं "किस तरह" को पेशेनजर रखूँ तो यह जवाब दे सकता हूँ कि अपने कमरे में सोफे पर बैठ जाता हूँ। कागज-कलम पकड़ता हूँ और बिस्मिल्लाह करके अफसाना लिखना शुरू कर देता हूँ। मेरी तीन बच्चियाँ शोर मचा रही होती हैं। मैं उनसे बातें भी करता हूँ। उनकी आपसी लड़ाइयों का फैसला भी करता हूँ, अपने लिए "सलाद" भी तैयार करता हूँ। अगर कोई मिलने वाला आ जाये तो उसकी खातिरदारी भी करता हूँ, मगर अफसाना लिखे जाता हूँ।

अब 'कैसे' सवाल आये तो मैं कहूँगा कि मैं वैसे ही अफसाने लिखता हूँ जिस तरह खाना खाता हूँ, गुसल करता हूँ, सिगरेट पीता हूँ और झक मारता हूँ।

अगर यह पूछा जाये कि मैं अफसाना 'क्यों' लिखता हूँ तो इसका जवाब हाजिर है।

मैं अफसाना अब्बल तो इसलिए लिखता हूँ कि मुझे अफसाना लिखने की शराब की तरह लत पड़ी हुई है।

मैं अफसाना न लिखूँ तो मुझे ऐसा महसूस होता है कि मैंने कपड़े नहीं पहने हैं या मैंने गुसल नहीं किया या मैंने शराब नहीं पी।

मैं अफसाना नहीं लिखता, हकीकत यह है कि अफसाना मुझे लिखता है। मैं बहुत कम पढ़ा-लिखा आदमी हूँ। यूँ तो मैंने 20 से ऊपर किताबें लिखी हैं, लेकिन मुझे कभी-कभी हैरत होती है कि यह कौन है जिसने इस कदर अच्छे अफसाने लिखे हैं, जिन पर आये दिन मुकद्दमे चलते रहते हैं।

जब कलम मेरे हाथ में न हो तो मैं सिर्फ सआदत हसन होता हूँ जिसे उर्दू आती है न फारसी, न अंग्रेजी, न फ्रांसीसी।

अफसाना मेरे दिमाग में नहीं, जेब में होता है जिसकी मुझे कोई खबर नहीं होती। मैं अपने दिमाग पर जोर देता हूँ कि कोई अफसाना निकल आये। कहानीकार बनने की भी बहुत कोशिश करता हूँ, सिगरेट फूँकता रहता हूँ मगर अफसाना

दिमाग से बाहर नहीं निकलता है। आखिर थक-हार कर बाँझ औरत की तरह लेट जाता हूँ।

अनलिखे अफसाने के दाम पेशगी वसूल कर चुका हूँ। इसलिए बड़ी कोफ्त होती है। करवटें बदलता हूँ। उठकर अपनी चिड़ियों को दाने डालता हूँ। बच्चों का झूला झुलाता हूँ। घर का कूड़ा-करकट साफ करता हूँ। जूते, नन्हें-मुन्हें जूते, जो घर में जहाँ-तहाँ बिखरे होते हैं, उठाकर एक जगह रखता हूँ। मगर कम्बख्त अफसाना जो मेरी जेब में पड़ा होता है मेरे जहन में नहीं उतरता और मैं तिलमिलाता रहता हूँ।

जब बहुत ज्यादा कोफ्त होती है तो बाथरूम में चला जाता हूँ, मगर वहाँ से भी कुछ हासिल नहीं होता।

सुना हुआ है कि हर बड़ा आदमी गुसलखाने में सोचता है। मगर मुझे तजुर्बे से यह मालूम हुआ है कि मैं बड़ा आदमी नहीं, इसलिए कि मैं गुसलखाने में नहीं सोच सकता। लेकिन हैरत है कि फिर भी मैं हिंदुस्तान और पाकिस्तान का बहुत बड़ा कहानीकार हूँ।

मैं यही कह सकता हूँ कि या तो यह मेरे आलोचकों की खुशफहमी है या मैं उनकी आँखों में धूल झोंक रहा हूँ। उन पर कोई जादू कर रहा हूँ।

माफ कीजिएगा, मैं गुसलखाने में चला गया। किस्सा यह है कि मैं खुदा को हाजिर-नाजिर रखकर कहता हूँ कि मुझे इस बारे में कोई इल्म नहीं कि मैं अफसाना क्यों कर लिखता हूँ और कैसे लिखता हूँ।

अक्सर ऐसा हुआ है कि जब मैं लाचार हो गया हूँ तो मेरी बीवी, जो सम्भव है यहाँ मौजूद है, आयी उसने मुझसे यह कहा है, "आप सोचिए नहीं, कलम उठाइये और लिखना शुरू कर दीजिए।"

मैं इसके कहने पर कलम या पेंसिल उठाता हूँ और लिखना शुरू कर देता हूँ- दिमाग बिल्कुल खाली होता है लेकिन जेब भरी होती है, खुद-ब-खुद कोई अफसाना उछलकर बाहर आ जाता है।

मैं खुद को इस दृष्टि से कहानीकार, नहीं, जेबकतरा समझता हूँ जो अपनी जेब खुद ही काटता है और आपके हवाले कर देता हूँ- मुझ जैसा भी बेवकूफ दुनिया में कोई और होगा?

□

हिग्स बोसोन : विज्ञान और मानवता के लिये एक अनमोल उपलब्धि

-दिगम्बर

4 जुलाई 2012 विज्ञान जगत के साथ-साथ पूरी दुनिया के लिए एक यादगार दिन रहा। इस दिन स्विट्जरलैंड और फ्रांस की सरहद पर जेनेवा के सर्न प्रयोगशाला के निदेशक रोल्फ ह्यूर ने दुनिया के जाने-माने वैज्ञानिकों की उपस्थिति में हिग्स बोसोन या 'गौड पार्टिकल' की खोज का ऐलान किया। उन्होंने कहा कि "हमने एक नये कण का अवलोकन किया, जो हिग्स बोसोन से पूरी तरह मेल खाता है। हालाँकि अभी हमारे सामने ढेरों काम पड़े हैं। अब हम यह भी जानते हैं कि हमें किस दिशा में जाना है।" इस अवसर पर इस सूक्ष्म कण की अवधारणा प्रस्तुत करने वाले दो वैज्ञानिकों में से एक, पीटर हिग्स भी वहाँ मौजूद थे। किसी जमाने में उन्होंने कहा था कि अपनी इस अवधारणा को प्रयोग द्वारा सिद्ध होते वे जीते जी शायद ही देख पायें। दूसरे वैज्ञानिक सत्येन्द्र नाथ बोस की 1974 में ही मृत्यु हो गयी थी।

पाँच हजार से भी अधिक वैज्ञानिकों की टीम के साथ इस खोज में लगे दो शीर्षस्थ वैज्ञानिकों इन्कान्देला और गिआनोत्ती ने इस अवसर पर हिग्स बोसोन मौलिक कण के प्रमाण को जटिल वैज्ञानिक शब्दावली में विस्तार से बताया। हालाँकि उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि अभी हम अन्तिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँचे हैं। अगले चरण के प्रयोगों से निर्णायक रूप से इसकी पुष्टि की जायेगी। यही वह कण है जो इस बात की व्याख्या करता है कि ब्रह्माण्ड में मौजूद किसी भी पदार्थ का रूप और आकार किस चीज से निर्धारित होता है। साथ ही यह ब्रह्माण्ड की सृष्टि को व्याख्यायित करने वाले बिग बैंग सिद्धांत की विलुप्त कड़ियों में से एक है।

लगभग आधी सदी से वैज्ञानिक इस रहस्य से पर्दा उठाने में लगे हैं कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कैसे हुई। इस दिशा में काफी प्रगति हुई है, सैद्धांतिक भौतिकी के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि इसके विविध पहलुओं को प्रायोगिक सत्य की कसौटी पर परखने की दृष्टि से भी। इस कण की अवधारणा 1960 के दशक में पीटर हिग्स और आईस्टीन तथा सत्येन्द्रनाथ बोस सहित वैज्ञानिकों के पाँच अलग-अलग समूहों ने प्रस्तुत की थी। यह उस स्टैण्डर्ड मॉडल को पूर्णता प्रदान करने वाला अब तक अज्ञात एक अंश है जो मूलभूत कणों और प्रकृति के बलों की बिलकुल सही-सही

व्याख्या करने में सफल साबित हुआ था। इस मॉडल के अनुसार ब्रह्माण्ड की रचना 14 मूलभूत कणों (फण्डामेंटल पार्टिकल्स) और चार मूलभूत गतियों (फण्डामेंटल फोर्स) से हुई है। इसके अनुसार मूलभूत कणों का द्रव्यमान हिग्स बोसोन के साथ उनकी परस्पर क्रिया की शक्ति से निर्धारित होता है। हिग्स कणों के बिना ब्रह्माण्ड में मौजूद पदार्थ के द्रव्यमान को सुनिश्चित करने वाले कारक को समझना मुश्किल है। इसीलिए इस कण के अस्तित्व का पता लगाना ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की सही-सही व्याख्या करने के लिये बेहद जरूरी है।

सैद्धांतिक रूप से पूरी तरह स्वीकृत और स्थापित होने के बाद अब इसे प्रयोग से सिद्ध करना बाकी था। इस काम के लिए सर्न प्रयोगशाला की 27 किमी लम्बी सुरंग में प्रोटोन विघण्डित करने वाला एक विराट कोलाइडर लगाया गया। इसके अंदर दो विपरीत दिशाओं में घूर्णन करते, उच्च ऊर्जा से त्वरान्वित प्रोटोन की दो किरणों को आमने-सामने टकराया जाता है। इसके चलते असंख्य जाने-अनजाने कण पैदा होते हैं। वैज्ञानिक ऐसे ही लाखों टकरावों के मलबे में संकेत (सिग्नल) की तलाश करते हैं जिसके लक्षण हिग्स कण से मिलते हों। हिग्स कण का जीवन-काल बहुत ही छोटा होता है- एक सेकेंड का दस हजार अरबवाँ हिस्सा। पैदा होते ही हिग्स बोसोन कई स्तरों पर विनष्ट होता है। फिर प्रयोग के दौरान यह विश्लेषण किया जाता है कि जो चीज अंत में बचती है, क्या वह हिग्स बोसोन का ही अवशेष है। कुल मिला कर यह प्रयोग बहुत ही सूक्ष्म और जटिल है।

हिग्स बोसोन कण के साथ 'गौड पार्टिकल' नाम कैसे जुड़ा? इसकी कहानी यह है कि नोबेल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक लिओन लैदरमान ने 1993 में एक किताब लिखी थी, जिसके शीर्षक (द गॉड पार्टिकल : इफ द यूनिवर्स इज द आनसर, ह्याट इज द क्वेश्चन?) में इस शब्द का प्रयोग व्यंजना में किया गया था। उस लेख में यह स्थापित किया गया था कि हिग्स बोसोन की खोज से पदार्थ की संरचना को निर्णायक रूप से समझने में मदद मिलेगी। लेकिन साथ ही यह ढेर सारे नये सवालियों को भी जन्म देगा। इस अर्थ में यह कण ईश्वर की तरह ही मायावी और रहस्यमय है।

खुद हिग्स और लेदरमान दोनों ही दृढ़ भौतिकवादी हैं। ईश्वर का संदर्भ तो व्यंग्यस्वरूप आया था, क्योंकि लेदरमान पहले उस किताब का शीर्षक (गॉड डैम पार्टिकल) 'हे भगवान कण' रखना चाहते थे, लेकिन प्रकाशक इस पर राजी नहीं हुआ। तब काम चलाने के लिये उन्होंने गौड पार्टिकल पर अपनी सहमती दे दी। बहुत से वैज्ञानिक इस नाम को भ्रामक मानते हैं और इसे बहुत ही नापसंद करते हैं।

मीडिया ने रोचक किस्से गढ़-गढ़ कर इस नाम को बहुप्रचलित कर दिया। कम बुद्धि वालों के लिये अक्सर अभिधा-लक्षणा-व्यंजना में अन्तर करना मुश्किल हो जाता है। यही कारण है कि कई मूढमति लोगों ने इस वैज्ञानिक खोज को ईश्वर की खोज मान कर जश्न भी मना लिया। इसमें यह निहित है कि ऐसे ईश्वर भक्त ईश्वर के अस्तित्व को लेकर संशयग्रस्त हैं, नहीं तो उन्हें यह सोचना चाहिये था कि नास्तिक वैज्ञानिक भला ईश्वर की खोज करने पर अपना वक्त जाया क्यों करेंगे और अगर उन्हें ईश्वर को लेकर संदेह नहीं होता तो उन नास्तिकों द्वारा अपने सर्वशक्तिमान, स्वयंसिद्ध ईश्वर का प्रमाण पत्र पाकर भक्तगण इतने गदगद भला क्यों होते? दरअसल हिग्स बोसॉन कण की खोज से भौतिकवाद को और अधिक बल मिलेगा।

हिग्स बोसॉन कण की खोज के विषय में मेरी दिलचस्पी बढ़ाने का काम भी हिंदी के ऐसे ही किसी अनोखे पत्रकार ने अब से लगभग 6-7 महीने पहले किया था। दिसम्बर माह में इस प्रयोग की सफलता का हवाला देते हुए उसने लिखा था कि इस कण की खोज हो जाने पर यह पक्के तौर पर स्थापित हो जायेगा कि ब्रह्माण्ड की रचना ईश्वर ने की। पहले मैंने इसे छद्म-विज्ञान का कोई शगूफा समझा, जो आये दिन ईश्वर और आत्मा का अस्तित्व साबित करने के लिए अकाट्य किन्तु हास्यजनक वैज्ञानिक प्रमाण पेश करते रहते हैं। लेकिन जब इस पूरी वैज्ञानिक परियोजना की तह में गया और पता चला कि जल्दी ही इसके परिणाम आने की सम्भावना है तो काफी मजा आया। वह दिन और आज का दिन, जब सुबह-सुबह अखबार से यह सुखद समाचार और ढेर सारी जानकारी मिली।

हालाँकि आज भी इस युगांतरकारी घटना के विषय में खास तौर पर हिंदी अखबारों और टीवी चैनलों में भ्रामक उक्तियों की भरमार रही। सब का एक ही मकसद था, विज्ञान पर अन्धविश्वास की जीत सिद्ध करना। देशबंधु के एक लेख में पत्रकार यह बात घुसाने का लोभ संवरण नहीं कर पाया कि-

'यह सुनिश्चित करने के लिये हालाँकि अभी और अधिक काम करने की आवश्यकता है कि जो उन्होंने देखा, वह वाकई में कोई ईश्वर है।' (अगला लेख इसी पर है कि मुख्यधारा की मीडिया ने वैज्ञानिक खोज को कितने विकृत रूप में पेश किया।)

आज की परिस्थितियों में मीडिया की ऐसी शर्मनाक करतूतें बहुत ही स्वाभाविक हैं। वर्तमान समाज में ज्ञान-विज्ञान पर जिन लोगों का कब्जा है वे अपने निकृष्ट स्वार्थों के लिए इनका इस्तेमाल करते हैं और बहुसंख्य जनता को अज्ञान के अँधेरे में कैद रखना चाहते हैं। जब तक समाज व्यवस्था पर परजीवियों- धर्म-ध्वजाधारियों, सत्ताधारियों और थैलीशाहों का वर्चस्व कायम है, वे विज्ञान और वैज्ञानिकों को अपने हुकम का गुलाम बनाये रहेंगे। इसीलिए वैज्ञानिक शोध के साथ-साथ सामाजिक बदलाव भी बहुत जरूरी है। तभी जन-जन में विज्ञान और वैज्ञानिक नजरिया व्यापेगी।

हमारे यहाँ ऐसे अतीत पूजकों की भी कमी नहीं जो मानते हैं कि वेद ही दुनिया के सभी ज्ञान-विज्ञान का एकमात्र और अकाट्य स्रोत है। ऐसे ही किसी भारत-व्याकुल महानुभाव ने फेसबुक पर यह टिप्पणी जड़ी कि 'वेदों में भी है ईश्वरीय कण का जिक्र... यूरोपीय वैज्ञानिकों ने जिस हिग्स बोसॉन से मिलते-जुलते कण को खोजने का दावा किया है उसका व बिग बैंग का सबसे पहला जिक्र वेदों में आता है। वैज्ञानिकों ने हिग्स बोसॉन को गॉड पार्टिकल यानी ब्रह्मकण का नाम दिया है।'

अतिशयोक्ति को तर्क का छूआ लगते ही भीषण हास्य उत्पन्न होता है। ये अतिशय ज्ञानी यह भी नहीं समझते कि अपनी इन असंगत बातों से वे वेद का और प्राचीन भारतीय संस्कृति का कितना अधिक अपमान करते हैं।

कहते हैं कि बाबा आदम ने वर्जित फल खाया और भगवन ने उनको स्वर्ग से भगाया। और अब भगवान को इस सम्पूर्ण विश्व से- गोपुर, नरपुर, नागपुर से अंतिम विदाई देने के लिए जैसे एक छोटे से कण- हिग्स बोसॉन की थाह लगना ही काफी है। वैसे तो विज्ञान की हर नयी खोज ही उन्हें थोड़ा-थोड़ा पीछे सरकाती जा रही थी, अब उसके लिये अलविदा, फातेहा, श्राद्ध, अंतिम अरदास और जो जिस विधि-विधान से खुश हो, वह सब।

गालिब ने बिलकुल इसी मौके के लिये लिखा था-
*निकलना खुल्द से आदम का सुनते आये हैं लेकिन,
बहुत बे आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले।*

□

वैज्ञानिक उपलब्धि के साथ भद्दा मजाक

-आशीष देवराड़ी

चालीस सालों से कई देशों के हजारों वैज्ञानिक जिस खोज में लगे हुए थे, उसके निष्कर्ष को मिट्टी में मिलाने में भारतीय मीडिया को चार मिनट भी नहीं लगे। 'ईश्वरीय कण' जो कि वास्तव में हिंस बोसॉन नाम का एक मूलभूत कण है, उसे मीडिया ने ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण बना कर पेश किया और जनमानस में ऐसा उन्माद पैदा किया, मानो वैज्ञानिकों ने साक्षात् ईश्वर को खोज लिया हो। यह किसी वैज्ञानिक उपलब्धि के साथ बेहद भद्दा मजाक था।

भारतीय मीडिया की खबरें देखेंगे तो ऐसा लगेगा कि वैज्ञानिक इतने सालों से पदार्थ के किसी मूलभूत कण को नहीं, बल्कि भगवान को ही खोज रहे थे और आखिरकार उन्होंने भगवान को खोज ही लिया। *दैनिक जागरण* का शीर्षक है - "भगवान के करीब पहुँचा विज्ञान।" *पत्रिका* ने एक कदम आगे जाकर घोषणा कर दी - "विज्ञान ने खोजा भगवान।" वैसे और अखबार भी कम नहीं। *नई दुनिया* ने शीर्षक दिया है "कण कण में भगवान।" जिस विशुद्ध वैज्ञानिक उपलब्धि का किसी ईश्वर से दूर-दूर तक नाता नहीं, उसे भारतीय मीडिया ने अंधविश्वास को पोषित करने वाली बातों के साथ जोड़ कर पेश किया है। इस गैरजिम्मेदाराना पत्रकारिता की जितनी आलोचना की जाय, कम है। जिनका काम वैज्ञानिक चेतना का प्रसार करना होना चाहिए, वे ठीक उल्टा काम कर रहे हैं।

भौतिकी के क्षेत्र में जिस खोज को मील का पत्थर माना जा रहा है उसे जागरण के सम्पादकीय लेख में 'कोई उपलब्धि ही नहीं' बताया गया है। वे लिखते हैं कि "दुनिया की कोई भी खोज भारतीय खोज के सामने कहीं नहीं टिकती। हमारे ऋग्वेद ने पहले ही कह दिया है कि कण-कण में ईश्वर है।" इसी लेख की अंतिम पंक्तियाँ कहती हैं कि "अब विज्ञान ने साबित कर दिया है कि ईश्वर कण-कण में बसता है। सर्न वैज्ञानिकों ने इसी की पुष्टि की है।" सम्पादक महोदय को समझना चाहिए कि खोज या वैज्ञानिक उपलब्धियाँ किसी एक देश की नहीं, बल्कि समूचे मानव जगत की होती हैं। एडीसन

का बल्ब भारत में भी जगमगाता है और शून्य का पूरी दुनिया में प्रयोग होता है। इसके बावजूद यदि आप मानते हैं कि भारतीय खोज के सामने दुनिया की खोज कहीं नहीं टिकती तो आप बताइये कि बीते साठ सालों में आपने मर्दाना ताकत बढ़ाने वाले तेलों और औषधियों के अलावा और क्या-क्या खोजा है? प्राचीन ग्रंथ के रूप में ऋग्वेद का सम्मान किया जाना चाहिए और साथ ही हमें उस युग के सीमित ज्ञान और सीमित संसाधनों को भी ध्यान में रखना चाहिये। हमें किसी वैज्ञानिक उपलब्धि को वैज्ञानिक उपलब्धि की तरह ही देखना चाहिए, इस तरह नहीं कि ऐसा हमारे प्राचीन ग्रंथों में पहले ही बता दिया गया था। ऐसा करना न केवल किसी वैज्ञानिक उपलब्धि के साथ मजाक है, वरन यह किसी हीनता-ग्रंथि का द्योतक है और साथ ही अपने प्राचीन ग्रंथों के साथ भी अन्याय है।

दूसरी बात यह कि सर्न प्रयोग से कहीं भी साबित नहीं होता कि कण-कण में ईश्वर है, उल्टे यह ईश्वर के अस्तित्व और ब्रह्मा द्वारा सृष्टि के उत्पन्न होने की बात को सौ फीसदी झूठा साबित करता है। यह प्रयोग ब्रह्मांड की उत्पत्ति के बारे में हमारी समझ को स्पष्ट और उन्नत करता है।

पीटर हिंस जिनके नाम पर इस कण का नामकरण किया गया है, वे नास्तिक हैं और वे इसे ईश्वरीय कण कहने का विरोध करते हैं। इस कण के साथ ईश्वर शब्द जुड़ने की कहानी भी दिलचस्प है। दरअसल नोबल पुरस्कार प्राप्त एक वैज्ञानिक लिओन लेंडरमैन ने अपनी किताब में इस कण के बारे में लिखा और रोचक बनाने के लिए उसका शीर्षक रखा-गॉड्डेम पार्टिकल। पुस्तक के प्रकाशक ने लोगों की नाराजगी के डर से उसकी जगह गॉड पार्टिकल कर दिया। बस कण के नाम के साथ ईश्वर नाम चल पड़ा और मीडिया ने इसे ही ईश्वर बना डाला।

खबरों को धर्म की चादर ओढ़ा कर परोसा जाना कतई सही नहीं ठहराया जा सकता, नहीं तो मीडिया और निर्मल बाबा में फर्क ही क्या रह गया? इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने भी इसे

सनसनी बनाकर ही पेश किया और खबर से जुड़े वैज्ञानिक पहलुओं को हाशिए पर धकेल दिया। हो सकता है कि ऐसा किये जाने से उनकी टीआरपी में बढ़ोत्तरी हुई हो जिसका सीधा सम्बन्ध विज्ञापन मिलने से है, पर अपने इस स्वार्थ के लिए समाज में अंध-आस्थाओं और अंधविश्वासों के बीज बोना मीडिया के रसातल में पहुँचने और उसके दुस्साहस का सूचक है। वैसे भी मीडिया का काम पैसे भुनाने का नहीं है, उसका काम है जनता को सही तथ्य और जानकारी देना और उसकी चेतना का स्तर उठाना। उसका काम है समाज में फैली कुरीतियों, अंध-मान्यताओं पर प्रहार कर एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना।

पूँजीवादी समाज में जहाँ खबरों का भी एक बाजार भाव है, वहाँ खबरों की आकर्षक पैकिंग करके बेचा जाना अप्रत्याशित नहीं। दरअसल मीडिया में ऐसी खबरें किसी सोची-समझी रणनीति का ही परिणाम हैं। सोचिये, आखिर दिन-ब-दिन वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद क्यों इसके समानांतर अंध-आस्था, अंधविश्वास और पाखण्ड भी बढ़ते ही जा रहे हैं, जबकि विज्ञान के बढ़ने से इनका प्रभाव समाज पर कम होते जाना चाहिए था। विज्ञान को पूँजीपतियों के स्वार्थों तक सीमित करने की कोशिश जारी है। विज्ञान को फलने-फूलने के लिए लोकतान्त्रिक और सजग समाज की आवश्यकता होती है, परन्तु दुर्भाग्य यह कि आज भी भारत में पुनरुत्थानवादी ताकतें विज्ञान के भौतिकवादी दृष्टिकोण का पुरजोर विरोध कर रही हैं। कई अवैज्ञानिक मतों को और अंधविश्वासों को विज्ञान का नाम दिया जा रहा है। प्रत्यक्षता की अवहेलना की जा रही है और वैज्ञानिक सोच के प्रति घृणा फैलाने, विज्ञान को गरीबी, विनाश, युद्ध आदि के लिए दोषी ठहराने का प्रपंच रचा जा रहा है। आधुनिक ज्ञान पुरातन का ही विकसित स्वरूप है, इसकी अवहेलना घातक है। भारत को कभी अपने ज्ञान-विज्ञान के लिये विश्व-भर में प्रतिष्ठा प्राप्त थी। यदि हम उस प्रतिष्ठा को वापस पाना चाहते हैं तो हमें विभ्रमों और अन्धविश्वासों की तथाकथित वैज्ञानिक व्याख्याओं और औचित्य निरूपण से परहेज करना चाहिए तथा प्रत्यक्षता और कार्य-कारण सम्बन्ध के आधार पर किये गये वस्तुगत विवेचन को ही मान्यता देनी चाहिये, शायद तब ही हम भारत की विलुप्त प्रतिष्ठा को हासिल कर सकेंगे। □

लड़ाई छोड़ब नहीं...

(आज जहाँ भी जल-जंगल-जमीन, बस्ती से बेदखली और मूल निवासियों का विस्थापन है वहाँ यह गीत मौजूद है। सुनील भिंज का यह गीत नये संघर्षों के लिये प्रतिरोध का गीत बन गया है।)

गाँव छोड़ब नहीं, जंगल छोड़ब नहीं
माई माटी छोड़ब नहीं लड़ाई छोड़ब नहीं।

बाँध बनाये, गाँव डुबोये, कारखाना बनाये
जंगल काटे, खादान खोड़े, सेन्च्युरी बनाये
जल-जंगल-जमीन छोड़ी हमिन कहाँ-कहाँ जायें
विकास के भगवान बता हम कैसे जान बचायें
गाँव छोड़ब...

जमना सूखी, नर्मदा सूखी, सूखी सुवर्णरेखा
गंगा बनी गंदी नाली कृष्णा काली रेखा
तुम पियोगे पेप्सी कोला, बिस्लरी का पानी
हम कैसे अपनी प्यास बुझायें पीकर कचड़ा पानी
गाँव छोड़ब...

पुरखे थे क्या मूरख जो वे जंगल को बचाये
धरती रखी हरी-भरी नदी मधु बहाये
तेरी हवस में जल गयी धरती लुट गयी हरियाली
मछली मर गयी पंछी उड़ गये जाने किस दिशायें
गाँव छोड़ब...

मंत्री बने कम्पनी के दलाल हमसे जमीन छीनी
उनको बचाने लेकर आये साथ में पलटनी
अफसर बने है राजा, ठेकेदार बने धनी
गाँव हमारी बन गयी है उनकी कॉलोनी
गाँव छोड़ब...

बिरसा पुकारे एकजुट हो! छोड़ो ये खामोशी
मछुवारे आओ दलित आओ आओ आदिवासी
खेत खलिहान से जागो नगाड़ा बजाओ
लड़ाई छोड़ी चारा नहीं सुनो देशवासी
गाँव छोड़ब... □

एनसीईआरटी की किताब : लोकतंत्र के लिये खतरनाक है

-करम पाल

कार्टून को लेकर विवाद और चर्चा में घिरी एनसीईआरटी की किताब पर दो साल पहले मेरी नजर पड़ी थी। उसे लेकर तत्काल मेरे मन में दो प्रतिक्रियाएँ हुईं- पहला, किताब तैयार करने वाले शिक्षाविदों की कल्पनाशीलजा को लेकर प्रशंसा का भाव। दूसरा, यह आशंका की इस किताब की विषयवस्तु किसी भी क्षण विवादों को जन्म दे सकती है और इस पर रोक लग सकती है। और वही हुआ। एक दिन अचानक नेहरू और अम्बेडकर पर कार्टून को लेकर संसद में पक्ष-विपक्ष उबल पड़ा। इन पुस्तकों की पाठ्य सामग्री को आपत्तिजनक, राजनीतिज्ञों को बदनाम करने वाली, मासूम दिमागों में जहर घोलने वाली और लोकतंत्र के लिये खतरनाक बताते हुए उन्हें पुस्तक से निकालने की सिफारिश की गयी है।

विवादों की शुरुआत सन् 2006 से पाठ्यक्रम में शामिल इन पुस्तकों में कार्टूनिस्ट शंकर द्वारा बनाये गये एक कार्टून को लेकर हुई जिसमें अम्बेडकर एक घोंघे पर बैठे हैं और पीछे से नेहरू उस घोंघे पर चाबुक फटकार रहे हैं। बगल में देश की जनता खड़ी है और घोंघे पर “संविधान” लिखा है। इस कार्टून का आशय धीमी गति (घोंघा चाल) से हो रहे संविधान निर्माण को दिखाना है। सबसे पहले कुछ तथाकथित दलित बुद्धिजीवियों और अम्बेडकरवादियों ने सवाल उठाया। शिक्षा मंत्री तो जैसे पाठ्य पुस्तकों पर किसी विवाद का इन्तजार ही कर रहे थे। उन्होंने इस भूल को स्वीकार करते हुए तुरन्त माफी माँगी। पाठ्य पुस्तकों की सलाहकार समिति के कुछ सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया। यूजीसी अध्यक्ष सुखदेव थोराट की अध्यक्षता में समिति गठित कर सरकार ने उस विवादित पाठ्य पुस्तक की जाँच का आदेश दिया। समिति की सिफारिश पर लगभग तीस कार्टून हटा दिये गये हैं। पाठ समझाने के लिये दो चरित्रों और कुछ लिखित सामग्री को भी हटा दिया गया है। इस दौरान सलाहकार समिति के सदस्य और शिक्षाविद सुहास पलिसकर के पुणे स्थित दफ्तर को कार्टून का विरोध कर रहे उपद्रवियों द्वारा तहस-नहस कर दिया गया।

गौरतलब है कि किसी पाठ्य पुस्तक के तैयार हो जाने के बाद अध्यापकों और छात्रों की “पाठ्य पुस्तक विकास

समिति” में विचार विमर्श होता है। इसके बाद मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा गठित समाज विज्ञानियों की मॉनिटरिंग कमेटी पुस्तकों की जाँच करती है और पाठ्यक्रम सलाहकारों को निर्देश देती है। उन सलाहकारों की अंतिम संस्तुति के बाद ही कोई पुस्तक पाठ्यक्रम में शामिल की जाती है। उक्त “खतरनाक” पुस्तक भी इसी प्रक्रिया से होकर गुजरी थी और सरकार को इसकी पूरी जानकारी थी।

देश के अधिकांश बुद्धिजीवियों व शिक्षाविदों का मानना है कि पुस्तकें बहुत ही उत्कृष्ट हैं। विषय-वस्तु को समझने के लिए इसमें कार्टून समेत कई माध्यमों का इस्तेमाल किया गया है। सामाजिक विषयों का अध्ययन आलोचनात्मक जाँच-पड़ताल की माँग करता है। इसके लिये जरूरी है कि उन्हें अतीत की सामाजिक, राजनीतिक घटनाओं को खुले दिमाग से समझने में मदद की जाय। इतिहास को आलोचनात्मक रूप से देखना और उसका विश्लेषण करना जरूरी होता है क्योंकि वर्तमान के बारे में नयी पीढ़ी को इससे जरूरी सबक मिलते हैं।

कार्टून का विरोध करने वालों और सरकार का तर्क है कि इसमें संविधान सभा के अध्यक्ष बाबा साहब भीम राव अम्बेडकर का अपमान किया गया है जबकि इस कार्टून में बाबा साहब को संविधान सभा के मुखिया के रूप में दिखाया गया है। इससे पहले अध्याय में ही यह बताया गया है कि किस तरह संविधान सभा की उग्र और जटिल बहसों तथा हितों के टकराव को कितनी सूझ-बूझ और धैर्य से सुलझाते हुए बाबा साहब एक सहमति तक पहुँचाते थे। यही संविधान के निर्माण में हुई देरी का कारण था। पहले अध्यायों में यह भी बताया गया है कि पूरे देश की जनता नये संविधान का व्यग्रता से इन्तजार कर रही थी और नेहरू इस पूरी प्रक्रिया को तेज करना चाहते थे। इतिहास की सच्चाई के अनुसार यह कार्टून किसी का मान-अपमान नहीं करता। उन समकालीन घटनाओं और परिस्थितियों पर व्यंग्य करते हुए एक प्रतिष्ठित कार्टूनिस्ट ने संविधान निर्माण की धीमी रफ्तार (स्नेल पेस) को व्यंजित किया है तो यह सशक्त अभिव्यक्ति के रूप में प्रशंनीय है। अपने जीते जी बाबा साहब या नेहरू तो इससे भी तीखे व्यंगबाण

को हँसते-हँसते सह लेते थे। लेकिन आज उसी कार्टून पर हंगामा खड़ा करना भला क्या दर्शाता है?

शैक्षणिक तौर तरीके और पाठ्य सामग्री को किसी समूह के पसंद और नापसंद के कारण बदलना क्या उचित है?

अगर किसी पुस्तक की विषयवस्तु विवादास्पद हो, तो उस पर विद्वानों और शिक्षाशास्त्रियों के बीच बहस करायी जानी चाहिए। इसके बाद जो नतीजा निकले उसे लागू किया जाना चाहिए। पूरे घटनाक्रम से साफ है कि सरकार पाठ्य पुस्तकों को बदलने के लिये किसी बहाने का इन्तजार कर रही थी। अपने संकीर्ण हितों के लिये पाठ्य पुस्तकों को बदलने में उसने अपनी पूर्ववर्ती भाजपा सरकार को भी पीछे छोड़ दिया है। जिस तरह पाठ्यक्रम के सलाहकारों का इस्तीफा लिया गया उसे देखते हुए क्या हम उम्मीद कर सकते हैं कि कोई शिक्षाविद रचनात्मकता, कल्पनाशीलता और स्वतंत्रतापूर्वक पाठ्य पुस्तक लिख पायेगा और शिक्षा के क्षेत्र में नये प्रयोगों की गुंजाइश रह जायेगी।

जिन्हें कार्टून में बाबा साहब का अपमान दिखायी दे रहा है, उन्हें शायद पता नहीं होगा कि खुद अम्बेडकर उस कार्टून को देखकर नाराज नहीं हुए थे। वे संकीर्णतावादी और ब्राह्मणवादी चिंतन के शिकार नहीं थे। वे खुली बहस, आलोचना और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को ब्राह्मणवाद के खिलाफ एक मजबूत वैचारिक शस्त्र मानते थे। आज आजादी के इतने सालों बाद भी अधिकांश दलित अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित हैं। उनके उत्पीड़न की सदियों से चली आ रही गाथा में रोज-ब-रोज खैरलांजी और मिर्चपुर जैसे अध्याय जुड़ते चले जा रहे हैं। हाल ही में हरियाणा के हिसार जिले के एक गाँव से दलित परिवारों को खदेड़ दिया गया। जब वे सरकार की शरण में गये तो वहाँ भी उन्हें गालियाँ ही मिलीं। ऐसे कठिन समय में खुद को अम्बेडकर का अनुयायी मानने वाले लोग प्रतिक्रियावादी शासकों के हाथ का मोहरा बन रहे हैं और कट्टरपंथियों की तरह कार्टून जैसे मुद्दे को लेकर किसी का पुतला फूँक रहे हैं, किसी का दफ्तर तोड़ रहे हैं। वे यह नहीं सोचते कि आज अम्बेडकर होते तो क्या करते? जाहिर है कि वे अभिव्यक्ति की आजादी और मतभेदों को मान्यता देने के पक्ष में खड़े होते जो पुराने विचारों के खिलाफ संघर्ष में दलितों के लिये ही सबसे कारगर और जरूरी हथियार हैं।

हमारे देश में किसी विचार को मारने का आजमाया हुआ तरीका उस विचार के प्रवर्तक को देवता बना देना है। अम्बेडकर

के साथ भी यही हुआ। उनके अनुयायी भी जाने-अनजाने यही कर रहे हैं। बाबा साहब के विचारों और सपनों को व्यवहार में उतारने के बजाय उन्हें वे मूर्तिपूजा और अनुष्ठानिक आयोजनों तक सीमित करते जा रहे। दलितों को शिक्षित, संगठित और आन्दोलित करने की जगह वे जज्बाती मुद्दे उठाकर सस्ती लोकप्रियता हासिल करना चाहते हैं।

कार्टून विवाद प्रकरण में कांग्रेस सरकार ने घटिया अवसरवाद का परिचय दिया। शिक्षा मंत्री के माफी माँगने और पुस्तकों को बदलने का आदेश देने से पहले यह भी आवश्यक नहीं समझा कि इस विषय पर संसद में बहस करायी जाये। इसके विपरीत संसद समेत सारे सत्ता प्रतिष्ठानों में उक्त पुस्तक के विरोध का स्वर तीव्र हो उठा। सदन के भीतर एक-दूसरे पर जूते-चप्पल फेंकने और विधान सभाओं में अश्लील वीडियो देखने वालों को भी कार्टून में राजनीतिज्ञों का अपमान दिखायी दिया। जब किसी व्यवस्था का जीवन-रस सूख जाता है, उसका आवेग थम जाता है, तब उसकी प्रगतिशीलता भी खत्म हो जाती है। ऐसे में व्यवस्था के संचालक जनता को गुमराह करने के लिए तरह-तरह के फर्जी मुद्दे उछालते हैं। क्योंकि उन्हें असली मुद्दों पर आक्रोश का भय सताता रहता है। अपने बचाव की कोशिश में वे एक से बढ़कर एक अवसरवादी, तानाशाही पूर्ण और जन विरोधी फैसले करते हैं। बदहवासी में उठाये गये ये कदम बदलाव की प्रक्रिया को रोकने के बजाय और भी तेज कर देते हैं। कुछ शिक्षाविदों, कार्टूनों और पाठ्य पुस्तकों को हटाने या दबाने से इस संकटग्रस्त लोकतंत्र का जीवन-रस और आवेग वापस नहीं आयेगा, उल्टा इसका अंत और निकट होगा। □

जहाँ मस्तिष्क निर्भय हो और मस्तक ऊँचा, जहाँ ज्ञान मुक्त हो। जहाँ दुनिया संकीर्ण घरेलू दीवारों से खंड-खंड विभाजित न हो। जहाँ सत्य की गहराइयों से निकलते हों शब्द। जहाँ अथक प्रयास अपनी बाहें पूर्णता की ओर बढ़ाते हों। जहाँ विवेक की निर्मल धारा ने मृत प्रथा के निर्जन मरुस्थल की रेत में अपना मार्ग नहीं खोया हो। जहाँ स्वाधीनता के उस स्वर्ग में मस्तिष्क निरंतर विस्तृत हो रहे विचार और क्रिया की ओर अग्रसर हो रहा हो, मेरे परम पिता, जागृत होने दो वहीं हमारे देश को।

-रविन्द्र नाथ टैगोर

बँटते जाने का सिलसिला

-सत्येंद्र रंजन

आखिरकार सुखदेव थोराट कमेटी ने उन कार्टूनों को एनसीईआरटी की किताबों से हटाने की सिफारिश कर दी है, जिन पर संसद में और बाहर भी, कई राजनीतिक समूहों की तरफ से ऐतराज किया गया था। सिफारिश उम्मीद के मुताबिक ही है। मगर इस निष्कर्ष से असहमत समिति के सदस्य मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज से जुड़े विद्वान एमएसएस पांडियन की यह टिप्पणी गौरतलब है कि जो बात राजनीतिक रूप से सही (पॉलिटिकली करेक्ट) हो, जरूरी नहीं है कि वह शैक्षिक रूप से भी उचित हो। यानी पांडियन और उनकी तरह ही देश में बहुत से दूसरे लोग यह मानते हैं कि थोराट कमेटी की ये सिफारिश पॉलिटिकली करेक्ट होने की कोशिश का हिस्सा है। यह शिक्षा में आलोचनात्मकता को बढ़ावा देने के मकसद के खिलाफ है। बहरहाल, यह राय आज खुद को सामाजिक न्याय का विरोधी ठहरा दिये जाने का जोखिम उठाते हुए ही रखी जा सकती है। ऐसा इसलिए कि अपने को न्याय और लोकतंत्र का पक्षधर मानने वाली जमातों में अपने हमेशा सही होने और दूसरों से अपने रुख के प्रति सम्पूर्ण समर्पण की माँग आज अतिवाद की हद तक पहुँच गयी है। नतीजा है कि ये जमातें लगातार बँटती ही जा रही हैं।

यही कारण है कि एनसीईआरटी की किताब में डॉ. अम्बेडकर के कार्टून को शामिल करने पर हाल में हुए विवाद का लोकतांत्रिक दायरे के लिये दूरगामी नतीजा क्या होगा, यह सोचने की जरूरत अभी शायद किसी ने महसूस नहीं की है। सम्बन्धित कार्टून में दलित चेतना के सर्वोच्च प्रतीक के प्रति सवर्ण पूर्वाग्रह अंतर्निहित है या नहीं, इस पर बहस इस लेख का विषय नहीं है। बल्कि हम अपनी बात को आगे बढ़ाने के क्रम में फिलहाल यह मान लेते हैं कि उस कार्टून से दलितों की भावनाएँ आहत होती हैं। लेकिन हमारा प्रश्न उसके आगे का है यह कि अगर ऐसा होता है, तब भी क्या जिस आक्रोश के साथ उस पर विरोध जताया गया और उस विरोध से तनिक भी असहमति रखने वाले लोगों के प्रति प्रतिक्रिया जतायी गयी- क्या वह दलित आंदोलन और प्रकारांतर से समाज के व्यापक

लोकतंत्रीकरण के उद्देश्यों के हित में है? इस प्रश्न का संदर्भ व्यापक है। इसलिए कि जब कभी समाज का कोई हिस्सा या समूह अपनी भावनाओं, अपने उद्देश्य और अपने एजेंडे को एकसूत्री बना लेता है और वह एक ऐसी लकीर खींच लेता है, जिसके बाहर के तमाम लोग उसे शत्रु लगने लगते हैं, तो उस प्रक्रिया में वह अंततः व्यापक जनतांत्रिक सहमति को नुकसान पहुँचाता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि पिछले कुछ वर्षों में अनेक समूहों के अतिवाद के कारण इन जनतांत्रिक समूहों का दायरा बँटता गया है। समस्या की जड़ यह है कि ऐसे समूह सभी लोगों से सम्पूर्ण समर्पण की अपेक्षा रखते हैं। वे चाहते हैं कि बाकी तमाम लोग, दुनिया और समाज को उनके ही नजरिये से देखें। और जो ऐसा नहीं करते, वे उन्हें अपने मकसद के विरोधी लगने लगते हैं। इस संदर्भ में हम कह सकते हैं कि जॉर्ज बुश जूनियर द्वारा 9/11 के बाद अपनायी गयी कसौटी को बड़े पैमाने पर वो लोग भी अपनाये हुए हैं, जो खुद डेमोक्रेट या न्याय की लड़ाई का योद्धा मानते हैं। ये कसौटी है- तुम या तो हमारे साथ हो या फिर हमारे दुश्मन के साथ।

मसलन, पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे के खिलाफ हुई गोलबंदी को याद करें। विवेक की कसौटी पर यह समझना किसी के लिए कठिन हो सकता है कि जनतांत्रिक संघर्ष में वाम मोर्चा के खिलाफ ममता बनर्जी दोस्त कैसे हो सकती हैं? राजनीतिक दोस्त एवं दुश्मन की समझ बनाने में क्या वर्ग चरित्र और किसी पार्टी या नेता के अंतिम मकसद की अनदेखी की जा सकती है? लेकिन, बंगाल और वहाँ के संदर्भ में खुद को जनपक्षीय मानने वाली बहुत-सी ताकतों ने ऐसा किया। माओवादियों से लेकर मेधा पाटेकर तक ने ममता बनर्जी को मुख्यमंत्री बनाने की अपील की। जिन माओवादी नेता किशनजी ने इसमें सबसे ज्यादा उत्साह दिखाया, उनके साथ ममता बनर्जी की सरकार ने क्या सलूक किया, यह उस पूरे घटनाक्रम की प्रतीकात्मक कथा है। दरअसल, नंदीग्राम और सिंगूर को केंद्र बनाकर हुई वाम मोर्चा विरोधी गोलबंदी का परिणाम देश के जनतांत्रिक जनमत में विभाजन के रूप में सामने आया। वाम

मोर्चा की हार में इसकी कितनी भूमिका रही, यह आकलन का विषय है। उसके साथ इसका मूल्यांकन भी जरूर होना चाहिए कि उस विभाजन के कारण तमाम जन-संघर्षों की राजनीतिक ताकत कितनी कमजोर हुई है? इस सिलसिले में यह सवाल प्रासंगिक है कि माओवादियों से लेकर जन-आंदोलनों के तथाकथित प्रतिनिधियों द्वारा वाम मोर्चे की पराजय को अपनी प्राथमिकता बनाना क्या सही रणनीति थी? अंतिम परिणाम के रूप में आखिर इससे क्या हासिल हुआ? क्या आज संगठित वामपंथ की कमजोर अवस्था के साथ भारतीय राजनीति बेहतर स्थिति में है?

ऐसे कुछ प्रश्न कथित अन्ना आंदोलन की लहर पर सवार हो गये जन-आंदोलनों और सामाजिक कार्यकर्ताओं से भी हैं। भ्रष्टाचार विरोध के नाम पर साम्प्रदायिक शक्तियों की मदद से दक्षिणपंथी समूहों द्वारा आयोजित इस आंदोलन ने संवैधानिक संस्थाओं के प्रति अनादर और द्रोह का जो माहौल पैदा किया- उसमें सहभागी बन कर इन कार्यकर्ताओं ने समाज के लिए आखिर क्या हासिल किया? आंदोलन के नेतृत्व से जुड़े राजनीतिक महत्वाकांक्षा वाले लोगों का एजेंडा साफ था। लेकिन जनान्दोलनों के लम्बे दौर से अपनी साख बनाने वाले कार्यकर्ता किस उम्मीद में वहाँ गये, इस पर सिर्फ अटकलें ही लगायी जा सकती हैं। बहरहाल, उस आंदोलन की तीखी जुबान इसका नतीजा जनतांत्रिक दायरे में एक और विभाजन के रूप में हुआ। बहुत से जन संगठनों और कार्यकर्ताओं में अपनी भूमिका को लेकर संशय बना। आज उन दो खेमों में बँटे समूहों के बीच समन्वय और सहमति की अपेक्षाकृत कम गुंजाइश है।

ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि परिस्थिति ऐसी बना दी जाती है, जब हम सबको कोई एक पक्ष चुन लेने के लिये मजबूर कर दिया जाता है। मसलन, नंदीग्राम की मोर्चाबंदी के बाद यह विकल्प नहीं रह गया कि आप संगठित वामपंथ और चरम वामपंथ के बीच उद्देश्य की किसी एकता की तलाश कर सकें। आपको यह चुनना ही था कि उस कालखंड में आप उनमें से किसके पक्ष में हैं। अन्ना आंदोलन की भाषा और उसके चरमपंथी अंदाज से अगर आप असहमत थे, तो उस आंदोलन के समर्थकों के नजर में आप सिर्फ कांग्रेस के समर्थक (असल में दलाल) ही हो सकते थे।

अम्बेडकर के कार्टून प्रकरण ने एक बार फिर यही स्थिति पैदा की। हालाँकि दलित आंदोलन के भीतर से कई विवेकशील आवाजें भी उठीं, लेकिन खासकर सामान्य स्वर यही रहा कि

उस कार्टून को एनसीईआरटी की किताब में शामिल करने की अगर आप निंदा नहीं करते, तो आप दलित भावनाओं के विरोधी हैं। पराकाष्ठा तो यह हो गयी कि डॉ. अम्बेडकर को पैगम्बर मोहम्मद की तरह का मसीहा बताकर यह दलील दी गयी कि उनकी आलोचना नहीं हो सकती। स्वंत्रतता के साढ़े छः दशक बाद आज सार्वजनिक विमर्श में ऐसे कम ही तथ्य मौजूद हैं, जिनके आधार पर डॉ. अम्बेडकर की आलोचना की जाय। बल्कि गुजरते समय के साथ भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की विषयवस्तु में न्याय का पहलू जोड़ने और संविधान निर्माण में उनकी ऐतिहासिक भूमिका को ज्यादा बेहतर ढंग से समझा जाने लगा है। डॉ. अम्बेडकर निसंदेह सबसे बड़े दलित प्रतीक पुरुष हैं, लेकिन आज उन्हें उन मूल्यों के प्रतीक पुरुष के रूप में हम सभी देखते हैं, जिनका मूर्तमान रूप भारतीय संविधान है। ऐसे में उन पर या उनकी विरासत पर एकाधिकार का दावा करने के अधिकार से किसी समूह को तो वंचित नहीं किया जा सकता, लेकिन उस दावे को सभी लोग स्वीकार करें, यह आवश्यक नहीं है। साथ ही किसी लोकतंत्र एवं विवेकशील समाज में किसी को आलोचना से ऊपर मानना एक समस्या को आमंत्रित करना है। यह विचारणीय है कि क्या यह दावा किसी एक समूह तक सीमित रह सकता है कि उसके आदरणीय व्यक्तित्व को आलोचना से ऊपर माना जाए? क्या इससे दूसरे तमाम समूहों को ऐसा ही दावा करने का हक नहीं मिल जाता और उनके भी ऐसे दावों की वैधता स्थापित नहीं हो जाती? दरअसल, तर्क और विवेक को हम जब कभी अस्वीकार करते हैं, तो यह याद रखना चाहिए कि हम उससे दूसरों को भी ऐसा करने का मौका देते हैं।

दुर्भाग्य से भावावेश के माहौल और अतिवादी विमर्श में ऐसा वे लोग करते नजर आये हैं, जिनका हित लोकतंत्र की सुदृढ़ता और तर्क की परम्परा मजबूत होने से जुड़ा है। अगर हाल के अनुभवों से ये समूह सबक नहीं लेते, तो लगातार उन शक्तियों को वैधता देते जायेंगे, जिनका अस्तित्व विवेकहीनता और अंध-आस्था पर आधारित है। ये शक्तियाँ यही तो चाहती हैं कि समाज में बहस और आलोचना की जगह खत्म हो जाय, जिससे वे पुरातन मूल्यों को फिर से आस्था के नाम पर स्थापित कर सकें। अगर खुद को लोकतांत्रिक एवं प्रगतिशील मानने वाले समूह भी वही कसौटी अपनाते हैं, तो क्या यह उनका खुद अपने ही पावों पर कुल्हाड़ी मारना नहीं है? □

अन्तरराष्ट्रीय महिला धावक के साथ मर्दवादी क्रूरता

किसी महिला ने अभियोग लगाया कि पिंकी प्रमाणिक पुरुष है और उसने मेरे साथ बलात्कार किया। पुलिस ने पिंकी प्रमाणिक को गिरफ्तार कर लिया और मीडिया ने न्याय प्रक्रिया का इन्तजार किये बिना ही, पिंकी प्रमाणिक को एक पुरुष और बलात्कारी मानते हुए, इसे दिन-रात प्रचारित प्रसारित किया। अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त धाविका पिंकी ने देश के लिए पदक पर पदक जीत कर देश की शान बढ़ायी थी। नयी धाविकाओं के लिये वह एक आदर्श खिलाड़ी थी। लेकिन मीडिया की इस मर्दवादी कुकृत्य ने पिंकी प्रमाणिक की प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया। घटना की शुरुआत में ही इसे मीडिया ने इस तरह पेश किया कि लोगों को पिंकी से कोई सहानुभूति होने के बजाय उससे नफरत हो गयी। यही नहीं, इस खबर को चटकारे ले-लेकर छापा और दिखाया गया, जिसे दूसरों की त्रासदी में आनन्द लेने और गलीज मानसिकता को बढ़ावा देने वाली एक शर्मनाक कार्रवाई ही कही जा सकती है। पिंकी को एक बलात्कारी, गुनहवार, दुश्चरित्र और देश का सर नीचा करने वाली धोखेबाज के रूप में देखने लगे। क्या यह मीडिया ट्रायल गैरकानूनी, गैर जिम्मेदाराना और गन्दा काम नहीं है? सही जाँच-पड़ताल किये बिना ही मनमाना फैसला सुना देना, लोगों को भ्रमित करना, उनके दिलो-दिमाग में गलत छवि बैठाना यही साबित करता है कि आज मीडिया को सच्चाई से कोई लेना-देना नहीं है। सही सूचना पहुँचाना अब इनका काम नहीं रहा। गर्मा-गरम मसालेदार खबरें परोस कर अपना मुनाफा बढ़ाना ही इसका उद्देश्य है। किसी की जिन्दगी बर्बाद हो तो हो खबरें हिट होंनी चाहिये ताकि अखबार और चैनल ज्यादा से ज्यादा कमाई कर सकें। जिस मीडिया की सोच ही इतनी कुंद और असंवेदनशील हो, क्या वह जनता को सही सूचना और समाज को सही दिशा दे सकती है? मीडिया ने आरोप को ही अन्तिम सच मान लिया। यह मीडिया के काम करने के तरीके और इसकी सोच को सन्देह के घेरे में लाता है। यह मीडिया की पुरुषप्रधान मानसिकता को दर्शाता है। पिंकी पर लगे आरोपों को डॉक्टरों और अदालत को अभी सही या गलत ठहराना बाकी ही था। लेकिन मीडिया को भला न्यायिक प्रक्रिया से क्या लेना-देना। मीडिया ट्रायल की ऐसी ही घटनाएँ आये दिन देखने

को मिलती हैं।

पिंकी प्रमाणिक के साथ गिरफ्तारी और जेल जाने से लेकर जमानत मिलने तक कदम-कदम पर क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया गया। मीडिया, पुलिस और दूसरे लोगों ने उसकी निजता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कदम-कदम पर धज्जी उड़ायी। अदालत में पेश करने के समय उसके साथ कोई महिला पुलिसकर्मी नहीं थी। मेडिकल जाँच भी पुरुष पुलिसकर्मियों के सामने किया गया। पुलिस उसके साथ छेड़-छाड़ करती रही। निजी अस्पताल में जाँच के समय जबरदस्ती उसके हाथ-पाँव बाँध दिये गये और मोबाइल से निर्वस्त्र पिंकी का 29 सेकेण्ड का वीडियो बनाकर इन्टरनेट पर जारी कर दिया गया। जेल में उसे पुरुष कैदियों के साथ रखा गया, जबकि पिंकी के वकील बार-बार न्यायाधीश से यह अपील करते रहे कि जब तक लिंग परीक्षण की रिपोर्ट नहीं आ जाती, पिंकी के साथ कानून महिला जैसा ही बर्ताव करे। जज ने यह आदेश भी दिया कि पिंकी प्रमाणिक के साथ न्यायसंगत व्यवहार किया जाय। लेकिन फिर भी उसे पुरुष कैदियों के साथ ही रखा गया और उसके साथ पुरुषों द्वारा पुरुषों जैसा ही बर्ताव किया जाता रहा।

आखिरकार काफी देर से ही सही, महिला आयोग, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं और खिलाड़ियों ने इस मामले में हस्तक्षेप किया। उन्होंने बताया कि पुलिस ने अदालती आदेश की अवहेलना की और पिंकी के साथ किया गया बर्ताव पुलिस नियमावली का उल्लंघन है। पुलिस हिरासत में जो यातानाएँ पिंकी को झेलनी पड़ी है वह इस व्यवस्था में पुलिस और प्रशासन की बर्बरता का एक छोटा सा नमूना है। अगर पिंकी प्रमाणिक जैसी अन्तरराष्ट्रीय खिलाड़ी के साथ ऐसा हो सकता है, तो आम जनता के साथ पुलिस कैसा बर्ताव करती है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

अलग-अलग अस्पतालों में तीन बार पिंकी की मेडिकल जाँच हुई और अन्ततः पिंकी प्रमाणिक को बारासात की अदालत से जमानत मिली। जमानत का आधार एसएसकेएल अस्पताल की क्रोमोसोम पैटर्न टेस्ट की रिपोर्ट थी। फैसले में कहा गया कि पिंकी प्रमाणिक दुष्कर्म करने के लिए शारीरिक रूप से सक्षम नहीं है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि अगर कोई व्यक्ति प्राकृतिक कारण से लैंगिक रूप से अस्पष्ट रह गया हो, तो भला इसमें उसका क्या कसूर। सभ्य समाज से उसे सहानुभूति की दरकार होती है। लेकिन इस स्थिति को जानने-समझने और उसके प्रति मानवीय और संवेदनशीलता का परिचय देने के बजाय उसकी निजता की धज्जी उड़ाना और उसके लैंगिक पहचान को मजाक का विषय बनाना क्या मानसिक रुग्णता, असभ्यता और बर्बरता की निशानी नहीं?

पिंकी को जमानत तो मिल गयी। मीडिया, पुलिस

प्रशासन और पूरे देश को यह जवाब भी मिल गया कि पिंकी पर लगाये गये आरोपों में दम नहीं है। लेकिन सवाल यह है कि पुलिस प्रशासन के क्रूरतम व्यवहार और मीडिया के दुष्प्रचार को झेल रही पिंकी की मानसिक स्थिति क्या होगी? क्या पिंकी पहले की तरह सामान्य जिन्दगी जी पायेगी? क्या उसे पहले की तरह मान-मर्यादा और उसकी खोयी हुई प्रतिष्ठा वापस दिला पायेगी? हम बर्बर सामाजिक तानेबाने में जीने को अभिशप्त नहीं? क्या इसे कायम रहना चाहिये? क्या हम पिंकी की पीड़ा को समझ सकते हैं। □

बुंदेलखंड में किसानों की आत्महत्या

पिछले कुछ दिनों में उत्तर प्रदेश के बुंदेलखंड इलाके से लगातार किसानों की आत्महत्या की खबरें आ रही हैं। इसका कारण कर्ज का असहनीय बोझ और आर्थिक तंगी है। महोबा जिले के खेमचंद, बंदा जिले के संतोष, जालौन जिले के मान सिंह, चित्रकूट जिले के ब्रिज मोहन, उन किसानों में से हैं जिन्होंने 29 अप्रैल 2012 से 12 मई 2012 के बीच आत्महत्याएँ की हैं। दो हफ्ते के भीतर घटित आत्महत्या की ये घटनाएँ भारतीय कृषि क्षेत्र के चौतरफा संकट को दर्शाती हैं। देश के किसानों ने हजारों सालों से अकाल, बाढ़, सूखा, महामारी, जैसी अनेकों प्राकृतिक आपदाओं से संघर्ष किया। गुलामी के दौर में भी अंग्रेजों की असहनीय अत्याचारों को बहादुरी से सहा है और अंग्रेजों से जमकर लोहा लिया, लेकिन वर्तमान युग में आधुनिक खेती और अच्छे उत्पादन के बावजूद देश के किसान आत्महत्या करने को क्यों विवश हैं?

1990 में जब से जन विरोधी-किसान विरोधी नयी आर्थिक नीतियों को देश में लागू किया गया तभी से किसानों कि दुश्चारियों का सिलसिला शुरू हुआ। नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने से पहले किसानों को खाद, बीज, कीटनाशक, सिंचाई व्यवस्था आदि के लिये सब्सिडी मिलती थी। सरकार फसलों पर न्यूनतम समर्थन मूल्य तय करती थी। आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध था। कालाबाजारियों, जमाखोरों और सट्टेबाजों पर अंकुश लगाया गया था। लेकिन नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से सब्सिडी धीरे-धीरे खत्म कर दी गयी। न्यूनतम समर्थन मूल्य केवल नाम के रह गये। आयात-निर्यात पर से रोक हटा दी गयी। खुली मण्डियों में देशी-विदेशी अनाज

कारोबारियों ने कब्जा जमा लिया। बाजार से नियंत्रण हटा दिया गया। इस तरह सरकार ने राक्षसी ताकतों के आगे किसान को असहाय छोड़ दिया।

इन नीतियों का सबसे ज्यादा असर छोटी जोत के किसानों पर हुआ जिनमें 80 फीसदी किसान शामिल हैं। 90 के दशक के बाद से ही किसानों को विविधीकरण के लिये प्रोत्साहन देने के नाम पर जैविक खेती, फूलों की खेती, सफेद मूसली और जेट्रोफा की खेती को बढ़ावा दिया गया। इन फसलों के लिए बीज, कीटनाशक और अन्य कृषि संसाधन महँगे दामों पर प्राइवेट कम्पनियों से खरीदने के लिए किसानों ने बैंकों और निजी सूदखोरों से कर्ज लिया। नयी आर्थिक नीतियों की सहायता से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने तो कृषि को अपने मुनाफे का जरिया बनाया ही आढ़तियों, ठेकेदारों, जमाखोरों के समूह ने भी किसानों को खूब लूटा। कई बार तो किसानों की फसल का लागत मूल्य देने से भी मना कर दिया गया। इस तरह घाटे और कर्ज के दबाव से किसानों की कमर टूट गयी। नयी आर्थिक नीतियों ने एक साजिश के तहत भारतीय कृषि को घाटे का सौदा बना दिया। इसीलिए आज 40 फीसदी किसान खेती छोड़ने के लिए मजबूर हैं। बड़ी संख्या में बुंदेलखंड के इलाके के किसान या तो खेती छोड़कर दूसरे कामों में लगे हैं या विस्थापित होकर मजदूरी की तलाश में मारे-मारे फिर रहे हैं।

आज विभिन्न पार्टियों के नेता अपने देशी-विदेशी आकाओं की सेवा में हर समय तत्पर रहते हैं लेकिन किसानों और उनके परिवारों की चीख उनके कानों तक नहीं पहुँचती है। कोई भी राजनीतिक पार्टी आज किसानों की समस्याओं को लेकर गम्भीर

नहीं है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में किसान अलग-अलग इन नीतियों के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं लेकिन सरकार इन छिटपुट असंगठित और स्थानीय आंदोलनों का आसानी से गला घोट दे रही है। किसी मजबूत संगठन के अभाव में अपवादों को छोड़ दें तो इन आंदोलनों को सफलता नहीं मिल रही है। आत्महत्या कोई समाधान नहीं

है। यह किसानों की दुर्दशा का संकेत है। पूरे देश के किसान मिलकर इन जन विरोधी-किसान विरोधी नीतियों के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष करें तभी कोई बदलाव सम्भव है।

□

उत्तर प्रदेश में किसानों की कर्ज माफी की असलियत

उत्तर प्रदेश सरकार ने घोषणा की थी कि सूबे के किसानों के पचास हजार रुपये तक कर्ज माफ किये जायेंगे। नतीजा यह हुआ कि बैंकों ने पुलिस की मदद से गाँव-गाँव जाकर कृषि ऋण की वसूली तेज कर दी। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत है अलीगढ़ जिले के एक किसान की आप-बीती।

बाजरे की कटाई चल रही थी। गर्मी बहुत ज्यादा थी। दो लोटा पानी पीकर ज्यों ही दर्राँती उठायी कि भतीजे ने आवाज दी- “चाचा, ओ चाचा जल्दी घरऊ आजा, वु जीप वाले आये हैं पुलिस लैकि।”

“मैंने सोचा पुलिस? हम कहाँ डकैती डारि आये। सबेरे ते साँझ तक तो खेत में हाड़ तुड़वा रहे हैं, तबऊ कोई गलती है गई का। चलौ देखतई। घर पहुँचे, जा खाट पै तीन से जादा हमनि अपने नातेदार भी नाई बैठन दिये उसी पै सात-आठ पुलिस वाले बैठके चाय-बिस्कुट खारये हैं। तुमाई सू मेरी आत्मा पजर गयी।”

हमें देखते ही अफसर बोला “आजा भाई, बहुत बड़ा आदमी हो गया है। बुलाने पर भी नहीं आता है।” हमने पूछा-“बताओ साब हमसे गलती का है गयी।” वे बोले-“गलती तुझसे नहीं हमसे हुई जो तुझे कर्ज दिया, अरे अब तो तेरा लड़का भी कमा रहा है, पैसा जमा करा दे।”

तब हम समझे कि जि बैंक वाले हैं। हमने कहा-“कुछ दिन पहले ही तो हम किस्त जमा कर के आये हैं। और न भी कर के आये तो क्या? जा बार तो पचास हजार तक की लोन ऐसे ही माफ है रही हैं। तुमनि जि खबर नाई सुनी का।”

“तू सुनने की बात कर रहा है हमने यह पढ़ी है, लेकिन बैंक का काम खबर से नहीं नोटिस से होता है। हमारे पास नोटिस है वसूली करने का, न कि कर्ज माफी का”-अफसर ने कहा।

“नहीं साब जी तौ सीधे-सीधे आँख में धूल झोंकी जा रही है। एक तरफ किसान कू उम्मीद दिलाई कि कर्ज माफ होगा, दूसरी तरफ अंदर ही अंदर दबाव दे रहे हैं कि लोन भरौ। जा खेल में तो कछू गड़बड़ जरूर है। हमनि तो सोची कै जा बार चौमासे (बरसात) से पहले छप्पर हठवा के टीन डलवा देंगे। छप्पर इतना पुराना हो गया है कै पिछले दो साल से हर बार चूल्हे तक पानी भर जाता है। तुम सब उम्मीदन पै पानी फेर रहे हो।”

“बस कर। अफसर चीखा, हम तेरी कहानी सुनने नहीं आये। अगले आठ दिन में या तो पैसा जमा होना चाहिए या थाने चलने को तैयार रहना।”

इसके बाद किसान ने ऐसी चुप्पी साधी जैसे किसी ने उनके मुँह पर ताला जड़ दिया हो। शायद वे सोच रहे थे कि बैंक का कर्ज चुकाने के लिए वे किससे उधार माँगें। कुछ देर बाद फिर बोले-

“वोट के चक्कर में पार्टियाँ बहकाती हैं। पुलिस गाँव में से किसानों को जीप में बिठाकर ले जाती है। हमारे लिए यह इज्जत और बेइज्जती वाली बात है। अब इज्जत बचाने के लिए कछू तो व्यवस्था करनी ही पड़ेगी। काऊ बौहरे (सूदखोर) के आगे नाक रगड़नी पड़ेगी। नहीं तो गाँव में को घास डारैगौ।”

बैंकों के कर्ज चुकाने के लिए, इज्जत बचाने के लिये किसान सूदखोरों से 24 प्रतिशत से 48 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दरों पर कर्ज लेकर सरकारी खजाने भर रहे हैं। आखिर कब तक झूठे वायदों से लोगों को बहलाया जाता रहेगा और कब तक हमारे देश के मेहनतकश लोगों को सम्मानजनक जिंदगी जीने का मौका मिलेगा?

□

भूखे भारत में अनाज का निर्यात

अर्थशास्त्र से एकदम अनजान आदमी भी अपनी पैदावार में से अपने उपभोग के बाद बचा हुआ सामान ही बेचता है, बशर्ते वह अपने परिवार के भरण-पोषण के प्रति लापरवाह न हो। लेकिन हमारे देश के शासक अपनी अवाम के प्रति जिम्मेदारी और जबावदेही से मुँह चुरा रहे हैं। उन्हें केवल पूँजीपतियों, देशी-विदेशी निजी कम्पनियों और विदेशी मुद्रा-भण्डार की चिंता है। तभी तो वाणिज्य मंत्रालय जनता के मुँह से निवाला छीनकर अनाज निर्यात की तैयारी कर रहा है।

मजदूरों-किसानों ने खाद्यान उत्पादन को बढ़ाकर आज साढ़े सात करोड़ टन तक पहुँचा दिया है, लेकिन भण्डारण की व्यवस्था न होने के कारण ढाई करोड़ अनाज खुले में सड़ रहा है। देश का हर दूसरा बच्चा भुखमरी और कुपोषण का शिकार है। देश की एक चौथाई आबादी को भरपेट भोजन नसीब नहीं होता। हमारे देश में प्रति व्यक्ति अनाज और दाल की खपत 1991 में 481 ग्राम थी जो अब घटकर 441 ग्राम रह गयी है जो 1943 में बंगाल में भीषण अकाल के दौरान प्रतिव्यक्ति अनाज की खपत (441ग्राम) के बराबर है।

नयी आर्थिक नीति के चलते एक खास वर्ग की खुशहाली बेशक बढ़ी है, लेकिन हाड़-तोड़ मेहनत करने वाली आम जनता की हालत लगातार बद से बदतर होती गयी है। आज भी देश की 80 फीसदी जनता गुलाम भारत जैसी अवस्था में पड़ी हुई

है। 'आर्थिक उन्नति' और 'शाइनिंग इण्डिया' जैसे जुमले की असलियत यही है। हमारे शासक गर्व से कहते हैं कि "पिछले 20 सालों में हुए बदलावों का असर है कि देश की जनता अब दूध, मछली, अण्डा, फल जैसे पौष्टिक आहार ग्रहण कर रही है, इसीलिए अनाज और दाल की प्रति व्यक्ति खपत में कमी आयी है। लेकिन राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन ने सरकार के इस बयान की कलाई खोल दी है, और बताया कि यह महज कपोल कल्पना है। अगर ऐसा होता तो पशु चारे की खपत बढ़ती और औसत अनाज की मात्रा पहले से अधिक हो जाती। इसका मतलब यह भी कि अगर कुछ लोगों की थाली में मांस-मछली, दूध, अण्डा पहुँचता है तो उसकी कीमत सबसे गरीब लोगों को भूखे रहकर चुकानी पड़ती है। क्योंकि तभी औसत मात्रा स्थिर रह सकती है।

अंग्रेजी सरकार के दौरान भी देश की जनता को भूखा रखकर खाद्यान विदेश भेज दिया जाता था, क्योंकि तब भारत गुलाम था। आज भी विदेशी मुद्रा के लोभ में विदेशों में अनाज भेजा जा रहा है, क्योंकि भारत आज नयी आर्थिक गुलामी के शिकंजे में है। यह पूँजीवादी दुनिया के चौधरी अमरीका द्वारा नियंत्रित साम्रज्यवादी नीतियों का नतीजा है जिसमें हमारे शासकों की पूरी सहभागिता है। इस नयी गुलामी से मुक्ति के बिना देश के बच्चों को भरपेट भोजन कराना और उनके चेहरे पर मुस्कान लाना असंभव है। □

बच्चों के कुपोषण और मौत की भयावह तस्वीर

नन्दी फाउंडेशन ने हाल ही में 'हंगर एंड मालन्यूट्रिशन' नाम से एक रिपोर्ट प्रस्तुत की है जिसमें बताया गया है कि हर साल लगभग 16 लाख बच्चे जन्म के कुछ ही समय बाद मर जाते हैं। दो साल से कम उम्र के पचास फीसदी बच्चे कुपोषित हैं।

छः राज्यों के बच्चों का सर्वे करके तैयार की गयी इस रिपोर्ट के मुताबिक देश में छह वर्ष से कम आयु के 42 प्रतिशत बच्चों का वजन सामान्य से कम होता है और 50 प्रतिशत बच्चे गम्भीर बीमारियों का शिकार होते हैं। समस्या की गंभीरता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि भारत के आठ राज्यों में जितने बच्चे कुपोषण के शिकार हैं, उतने अफ्रीका और सहारा उपमहाद्वीप के गरीब से गरीब देशों में भी नहीं हैं।

देश के संपन्न राज्यों में से एक, महाराष्ट्र में जनवरी 2012 में दस लाख 67 हजार 659 बच्चे कुपोषित थे और मई 2012 तक इनमें से 24 हजार 365 बच्चों की मौत हो गयी थी।

रिपोर्ट के मुताबिक राज्य के नंदूरबार जिले में पिछले साल 49 हजार, नासिक में एक लाख, मेलघाट में 40 हजार, औरंगाबाद में 53 हजार, पुणे जैसे सम्पन्न शहर में 61 हजार और मराठवाड़ा में 24 हजार बच्चे कुपोषण के शिकार हुए।

मुंबई के अस्पतालों में हर रोज 100 से ज्यादा कुपोषण के शिकार बच्चे भर्ती हो रहे हैं, जिनमें से 40 फीसदी की मौत हो जाती है। सिर्फ मुंबई में ही साल भर में 48 हजार बच्चे कुपोषण का शिकार हुए हैं।

समूचे महाराष्ट्र की स्थिति यह है कि जनवरी 2012 में

दस लाख 67 हजार 659 बच्चे कुपोषण का शिकार थे और मई 2012 तक इनमें से 24 हजार 365 बच्चों की मौत हो गयी थी।

भूख और कुपोषण संबंधी एक रिपोर्ट जारी करते हुए प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने पिछले साल कुपोषण की समस्या को देश के लिए शर्मनाक बताया था। घड़ियाली आँसू बहाये जाने के एक साल बाद जारी यह रिपोर्ट दिनों-दिन बदतर होते

हालात की ओर इशारा करती है।

इन दिल दहला देने वाली सच्चाइयों का हमारे देश के निर्मम शासकों पर कोई असर नहीं होता। विकास के जिस अमानुषिक रास्ते पर वे देश को घसीट रहे हैं उसमें देश की हालत सोमालिया से भी बदतर होना तय है। इसी भयावह सम्भावना की एक झलक है यह रिपोर्ट। □

कन्नौज निर्विरोध चुनाव और मौजूदा राजनीति

डिम्पल यादव उत्तर प्रदेश की पहली ऐसी महिला हैं जिनके खिलाफ किसी भी पार्टी का कोई नेता चुनाव लड़ने के लिये तैयार नहीं हुआ। वे न तो कोई अनुभवी नेता हैं और न ही कोई समाज सुधारक। उत्तर प्रदेश के इस अत्यंत पिछड़े चुनाव क्षेत्र, कन्नौज की जनता की परेशानियों के लिये शिक्षा, चिकित्सा जैसी बुनियादी सुविधाओं, किसानों की फसलों के वाजिब दाम, या महिलाओं पर हो रहे अत्याचार और शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ उन्होंने कोई आंदोलन नहीं किया। समाजवादी पार्टी (सपा) प्रमुख की पुत्रवधू और मुख्यमंत्री की पत्नी से अलग उनकी कोई स्वतंत्र पहचान भी नहीं है। तब आखिर किसी पार्टी ने सपा के इस प्रत्याशी के खिलाफ अपना प्रत्याशी क्यों खड़ा नहीं किया?

सपा की धुर विरोधी, मुलायम को मुल्ला मुलायम कहने वाली भारतीय जनता पार्टी ने नामांकन पत्र भरने से कुछ ही घंटे पहले अपना उम्मीदवार घोषित किया पर उस व्यक्ति ने परचा नहीं भरा। बहुजन समाज पार्टी जिसके साथ विधान सभा चुनाव में सपा की सीधी टक्कर थी, उसने कन्नौज से डिम्पल को प्रत्याशी बनाने को सपा के परिवारवाद का नमूना बताया, लेकिन अपनी पार्टी का उम्मीदवार खड़ा न करके परिवारवाद को मजबूत बनाया। कांग्रेस ने भी खुद को मुकाबले से बाहर रखा। यही हाल वामपंथी पार्टियों का भी रहा। जो दो निर्दलीय प्रत्याशी खड़े हुए थे, उन्होंने भी अपना नाम वापस ले लिया। जब बड़ी-बड़ी पार्टियाँ मैदान छोड़कर भाग गयीं, तो भला निर्दलियों की क्या बिसात।

मुलायम सिंह का मानना है की डिम्पल यादव का निर्विरोध निर्वाचन सपा की नीतियों और कार्यक्रमों के प्रति जनता का अगाध विश्वास और लोकतंत्र की जीत है। लेकिन

सच्चाई तो यह है की जनता इस पूरे मामले में महज तमाशबीन बनी रही। इस जीत की असली वजह राजनीतिक दावपेंच और लोभ-लाभ के चलते बाकी सभी पार्टियों का सपा के आगे समर्पण है। उन्होंने डिम्पल यादव को वॉक ओवर (बिना मुकाबला जीतने) दिया और बिना चुनाव लड़े ही विपक्ष ने अपनी हार कबूल कर ली। ये वही डिम्पल हैं जिन्हें लोकसभा चुनाव 2009 में फिरोजाबाद सीट से मुँह की खानी पड़ी थी। तब कांग्रेस प्रत्याशी अभिनेता राज बब्बर ने उन्हें 85,000 मतों से हराया था।

क्या सपा की नीतियों और उसके कार्यक्रमों से अन्य सभी पार्टियाँ सहमत हैं? क्या उन पार्टियों का सपा से अब कोई मतभेद नहीं रहा? अगर सब सहमत हैं तो फिर हाल ही में सम्पन्न विधानसभा चुनाव में वे एक-दूसरे के खिलाफ जहर क्यों उगल रहे थे? चुनाव के बाद कई गाँवों में पार्टी समर्थकों के बीच खूनी संघर्ष आखिरकार क्यों हुए? और अगर उन सबकी नीतियाँ अलग-अलग हैं तो वे चुनाव क्यों नहीं लड़े? दरअसल यह कन्नौज की जनता और तथाकथित लोकतंत्र का मजाक है।

इस निर्विरोध चुनाव से एक बात समझ में आती है कि वास्तव में भारत में अब पक्ष और विपक्ष जैसी कोई चीज नहीं रही। सिर्फ कुर्सी का खेल है। आज संसदीय पार्टियों में नीतिगत मामलों में आम सहमती है। विरोध सिर्फ वोट लेने के तरीकों और चुनाव जीतने की जुगत का है। पार्टियों के नाम और राजनीति करने वाले चेहरे ही अलग हैं। नीतियों और कार्यक्रमों के मामले में ये सभी पार्टियाँ एक ही पाले में खड़ी दिखायी देती हैं। पहले हर पार्टी की अपनी नीतियाँ अपने कार्यक्रम होते थे। पूँजीवादी दायरे के भीतर और अर्थव्यवस्था को चलाने तथा घरेलू और विदेश नीतियाँ तय करने में कुछ बारीक फर्क थे,

प्राथमिकताएँ अलग-अलग थीं। लेकिन आज इन पार्टियों में जाति-धर्म-क्षेत्र-भाषा के आधार पर आम जनता में फूट डालकर वोट जुटाने के मामले में ही फर्क है। बुनियादी नीतियों के मामले में सब एक हैं, जिसमें जनता से उसकी सुविधाओं को छीनना, देशी-विदेशी कम्पनियों को लूट की खुली छूट देना, महँगाई का आसमान छूते जाना, जनता की हालत बद से बदतर होते जाना शामिल है। नीतिगत मामलों में पिछले 20 वर्षों से सभी पार्टियों

का मौन समर्थन या दिखावटी विरोध यही साबित करता है कि देश की जनता को लूटने और उसका शोषण-उत्पीड़न और दमन करने में सबकी नीतियाँ और कार्यक्रम मूलतः एक ही हैं। विरोध केवल सत्ता की सीढ़ी चढ़ने के तौर-तरीकों को लेकर है।

एक-दूसरे की धुर विरोधी दिखने वाली पार्टियों का प्रत्याशी न खड़ा करना और डिम्पल यादव का निर्विरोध चुनाव जीतना इसका सबसे ताजा उदाहरण है। □

विदेशी विश्वविद्यालय कानून : उच्च शिक्षा थैलीशाहों के कब्जे में

विश्वविद्यालयों की भूमिका के बारे में जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि “ विश्वविद्यालय मानवता, सहिष्णुता, तर्कशीलता, विचारों का साहस और सत्य की खोज में खड़ा होता है। यह सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में मानव जाति की प्रगति-यात्रा के साथ होता है। यदि विश्वविद्यालय अपने दायित्वों का भली-भाँति पालन करें तो यह राष्ट्र और जनता के लिए बहुत ही अच्छा होगा।” लेकिन देश के मौजूदा शासक 50 साल बाद ही इन आदर्शों की धज्जी उड़ाते हुए शिक्षा को मुनाफा कमाने का जरिया और विद्यार्थी को मुनाफे के संसाधन में तब्दील कर चुके हैं। मानवता, सहिष्णुता, तर्कशीलता, विचारों का साहस और सत्य की खोज, राष्ट्र की भलाई अब बीते जमाने की बातें हैं।

आज उच्च शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, कार्य प्रणाली और सम्पूर्ण ढाँचे को देशी-विदेशी पूँजी के स्वार्थों के अनुरूप ढाला जा रहा है। शिक्षा क्षेत्र में मुनाफे के रास्ते टटोलते हुए सरकार अब विदेशी विश्वविद्यालयों के लिए नये-नये रास्ते तलाश रही है। विदेशी विश्वविद्यालय (प्रवेश और संचालन नियमन) विधेयक 2010 से ही संसद में अटका पड़ा है, इसीलिए अब उनके आने के लिए चोर दरवाजे खोलने की तैयारी जोरों पर है। भारत-अमरीका ज्ञान पहल के नाम से हुए समझौते के तहत संयुक्त शोध और ज्ञान साझेदारी के नाम पर पिछले दरवाजे से विदेशी विश्वविद्यालयों को देश में घुसने की इजाजत दी जा रही है। मानव संसाधन विकास मंत्री कपिल सिब्बल विदेशी विश्वविद्यालयों के प्रवेश को लेकर ज्यादा ही व्यग्र हैं। उनका कहना है कि “ विदेशी विश्वविद्यालयों का आना संचार क्रांति से भी बड़ी क्रांति होगी।”

संसद में विरोध के चलते अधर में लटके विधेयक से व्यथित और विदेशी विश्वविद्यालयों के आगमन को लेकर व्याकुल कपिल सिब्बल ने यूजीसी से मौजूदा कानून के दायरे में ही उन संभावनाओं को तलाशने को कहा है, जिनके जरिये विदेशी विश्वविद्यालयों को प्रवेश की इजाजत दी जा सके।

इसके दो संभावित रास्ते हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग कानून 1956 के अनुच्छेद 3 के तहत ‘डीम्ड विश्वविद्यालय’ के नाम पर या राज्यों के कानून के अंतर्गत निजी विश्वविद्यालय के रूप में। यह रास्ता पहले आजमाया भी गया है। ‘डीम्ड विश्वविद्यालय’ की संकल्पना आजादी के तत्काल बाद गठित राधा कृष्णन आयोग ने प्रस्तुत की थी जिसे 1956 में यूजीसी ने अपनी नियमावली में शामिल कर लिया, यूजीसी के इस नियम के अनुसार “ऐसे संस्थान जो ऐतिहासिक कारणों से या अन्य परिस्थितिवश विश्वविद्यालय नहीं हैं, लेकिन वह किसी भी विश्वविद्यालय के समान उच्च स्तर पर विशिष्ट शैक्षणिक कार्य कर रहे हैं” तो उसे ‘डीम्ड टू बी युनिवर्सिटी’ (विश्वविद्यालय जैसा मान्य) दर्जा दिया जा सकता है।

हालाँकि पहले इस श्रेणी में शामिल करने के लिए संस्थानों को बहुत ऊँचे मानदंडों पर कसा जाता था। 1958 में केवल इन्डियन इंस्टिट्यूट आफ साईंस और इन्डियन एग्रीकल्चर रिसर्च इंस्टिट्यूट ही इन मापदंडों पर खरे उतरते थे 1967 तक टाटा इंस्टिट्यूट आफ साईंस-धनबाद, बिड़ला इंस्टिट्यूट ऑफ तकनोलॉजी- पिलानी, इन्डियन इंस्टिट्यूट ऑफ माईन्स- धनबाद, आदि को डीम्ड विश्वविद्यालय का दर्जा दिया गया। इसके आलावा आईआईटी, आईआईएम, एम्स जैसे संस्थानों को भी इसमें शामिल किया गया था। लेकिन आज

सुभारती, शारदा, लवली प्रोफेशनल, एमिटी जैसे कुकरमुत्ते की तरह उग आये लगभग 150 से ज्यादा ऐसे प्राइवेट संस्थानों को इसमें शामिल कर लिया गया है, जो पहले गिनाये गये नामों के आगे कहीं नहीं ठहरते। आईआईटी, आईआईएम और एम्स जैसे संस्थानों में दाखिला पाना हर छात्र का सपना होता है, लेकिन सरकार की छात्र-विरोधी नीतियों के चलते इन संस्थानों का दायरा सीमित किया जा रहा। मजबूरन छात्रों को सुभारती, शारदा, लवली, एमिटी जैसे निजी संस्थानों में प्रवेश लेना पड़ता है, जिन्हें विश्वविद्यालय के बजाय शिक्षा का मॉल कहना ज्यादा उचित होगा। ऊँची फीस वसूल कर इन संस्थानों के मालिक मालामाल होते जा रहे हैं जबकि इनमें पढ़ने वाले छात्र एवं उनके अभिभावक फीस चुकाने के लिये बैंक से लिये गये कर्ज के बोझ तले दबते जा रहे हैं। पढ़ाई पूरी होने पर नौकरी की कोई गारंटी नहीं लेकिन उनके सर पर मोटे कर्ज और ब्याज की गठरी होगी इसकी पूरी गारंटी है।

देश में उच्च शिक्षा की हालत किसी से छिपी नहीं है, एक अनुमान के मुताबिक 12वीं पास करने वाले कुल छात्रों में से केवल बारह फीसदी छात्र ही उच्च शिक्षा ग्रहण कर पाते हैं। यूनेस्को की विश्व शिक्षा रिपोर्ट 2000 के अनुसार हमारे देश में 13 से 23 वर्ष की आयु के मात्र 6.9 प्रतिशत नौजवान ही उच्च शिक्षा प्राप्त कर पाते हैं। जहाँ तक विश्वविद्यालयों की संख्या का सवाल है तो दक्षिण कोरिया के 4.5 करोड़ पर 120 विश्वविद्यालय के स्तर पर पहुँचने के लिये हमें 2300 (लगभग नौ गुने) विश्वविद्यालय खोलने होंगे। उच्च शिक्षा में सुधार के लिये इतनी परेशान दिखने वाली सरकार शिक्षा के बजट में लगातार कटौती करती जा रही है जो सकल घरेलू उत्पाद के चार फीसदी से घटकर तीन फीसदी रह गया है। अभी हाल ही में वित्तमंत्री प्रणब मुखर्जी ने यह ऐलान किया कि सार्वजनिक खर्च में कटौती के लिये जनता तैयार रहे। आजादी के बाद से ही सरकार के लिये शिक्षा सबसे ज्यादा उपेक्षित क्षेत्र रहा है। जाहिर है कि इस नयी कटौती की गाज भी उसी पर गिरेगी।

1991 में अपनायी गयी नीतियों के बाद से ही सरकार सार्वजनिक सम्पत्ति को नीलामी पर चढ़ाती जा रही है, अब उच्च शिक्षा को भी देशी-विदेशी मुनाफाखोरों के लिये खोला जा रहा है।

विदेशी विश्वविद्यालयों को न्योता देना शिक्षा के निजीकरण-बाजारीकरण की दिशा में ही उठाया गया एक कदम है। शिक्षा में 100 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को मंजूरी देने

के बाद से देश में विदेशी शिक्षण संस्थानों की संख्या में 4.5 गुने की वृद्धि हुई है। सन् 2000 में जहाँ देश में कुल 144 विदेशी शिक्षण संस्थान थे, वहीं 2010 तक इनकी संख्या 631 हो गयी। सरकार का तर्क है कि विदेशी विश्वविद्यालयों के आने से प्रतिस्पर्धा बढ़ेगी और इससे शिक्षा के क्षेत्र में सुधार होगा, जबकि हालत तो यह है कि भारतीय विश्वविद्यालयों के साथ कई पाठ्यक्रमों में साझेदारी करने वाले करीब 150 विश्वविद्यालयों में से 104 विश्वविद्यालयों को यूजीसी ने फर्जी विश्वविद्यालय की सूची में रखा है और 44 विश्वविद्यालयों को उन्हीं के देश में मान्यता प्राप्त नहीं है। भला ऐसे धंधेबाज और फर्जी विश्वविद्यालयों से किस प्रतिस्पर्धा और शिक्षा के स्तर में कैसे सुधार का सपना दिखाया जा रहा है। खुद अपने ही देश के छात्रों को पढ़ने की फीस चुकाने के लिये शुक्राणु बेचने और देह व्यापार में धकेलने वाले ये विदेशी विश्वविद्यालय किस सदाशयता से हमारे देश की शिक्षा का स्तर सुधारेंगे।

कितनी हास्यास्पद बात है कि विदेशी विश्वविद्यालय विधेयक संसद ने मंजूर नहीं किया और यूजीसी यह तय करने में व्यस्त है कि देश में इन विदेशी शिक्षा की दुकानों का प्रवेश कैसे सम्भव हो। यूजीसी के मुताबिक उन्हीं विदेशी संस्थानों को प्रवेश की इजाजत दी जायेगी जो टाईम्स हायर एजुकेशन वर्ल्ड यूनिवर्सिटी रैंकिंग या शंघाई जिआओतोंग रैंकिंग में शीर्ष 500 संस्थाओं की सूची में शामिल होंगे। साथ ही वही भारतीय संस्थान इन विदेशी विश्वविद्यालयों के साथ साझेदारी कर सकते हैं जिन्हें नेशनल एसेसमेंट एंड एक्स्ट्रिशन काउन्सिल या नेशनल बोर्ड ऑफ एक्स्ट्रिशन की तरफ से सबसे ज्यादा अंक प्राप्त होंगे। हर बात पर संसद की सर्वोच्चता और पवित्रता की दुहाई देने वाली सरकारें अभी तय नहीं कर पायीं है कि विदेशी विश्वविद्यालयों को प्रवेश दिया जाये या नहीं लेकिन किस तरह उन्हें प्रवेश की इजाजत होगी इसके नियम तैयार कर लिये गये हैं।

मंशा एक दम साफ है। सरकार एन-केन-प्रकारेण और शीघ्रातिशीघ्र देशी-विदेशी विश्वविद्यालयों को भारत में धंधा शुरू करने की इजाजत देना चाहती है। इसके लिये चाहे उसे देश के संविधान को ही ताक पर क्यों न रखना पड़े।

देश के महान दार्शनिक और शिक्षाविद रविन्द्र नाथ टैगोर चाहते थे कि विश्वविद्यालय अपनी कार्रवाईयों का विस्तार करें और भारत के पिछड़े गाँव तक में अनौपचारिक शिक्षा का प्रचार करें। इसके लिये देशी भाषाओं में उपयोगी पुस्तिकाओं, पर्वों

को लिखें व उनका प्रकाशन करें। उच्च शिक्षा से अपना हाँथ पीछे खींच चुके हमारे शासकों से भी अब यह उम्मीद करना बेकार है, विदेशी विश्वविद्यालय तो भला ऐसे काम करने से रहे। वे तो पाठ्यक्रम भी बाजार की माँग के अनुरूप ही चलाएँगे। विदेशी विश्वविद्यालयों का आना विकास नहीं सर्वनाश है। अपनी चमक दमक के दम पर महँगे दामों में घटिया शिक्षा देकर भरपूर मुनाफा बटोरना ही विदेशी विश्वविद्यालयों का लक्ष्य है जिसके चलते पहले दिन से ही छात्र को बैंक का कर्जदाता बना

दिया जायेगा। जल्दी ही भारतीय छात्र भी अमरीकी छात्रों की तरह कर्ज के बोझ से दबे हुए जीवन की शुरुआत करेंगे। फिर तो मुनाफे के भूखे भेड़िये उन्हें जैसे चाहें अपने इशारे पर नचा सकेंगे। उनका न कोई आदर्श होगा और न ही कोई नैतिक साहस, न सामाजिकता न देश की जनता से कोई प्यार।

ये विश्वविद्यालय साँस लेने वाले और बोलने वाले रोबोट तैयार करेंगे। ऐसे में तमाम आजादी पसंद छात्रों-अभिभावकों का यह कर्तव्य बनता है कि इसके विरोध में आगे आयें। □

आईपीएल क्रिकेट मैच पूँजी का खेल

विवादों से भरा पाँचवाँ इन्डियन प्रीमियर लीग (आईपीएल) 27 मई, 2012 को कोलकाता नाईट राईडर्स की जीत के साथ खत्म हुआ। वैसे तो आईपीएल की शुरुआत ही कॉरपोरेट सट्टेबाजी के रूप में हुई थी और तभी इसकी विश्वसनीयता पर गम्भीर सवाल उठे थे। लेकिन इस बार मैदान और मैदान से बाहर यह लगातार सुर्खियों में रहा। बीते दिनों जिस तरह की घटनाएँ घटी, उसने क्रिकेट को कलंकित किया। इनमें कोलकाता नाईट राईडर्स के मालिक शाहरुख खान की वानखेड़े स्टेडियम के सुरक्षा अधिकारियों के साथ मारपीट, बंगलूरु के एक खिलाड़ी का एक महिला के साथ छेड़खानी और इसके मालिक की मीडिया वालों से बदतमीजी, मुंबई में एक पार्टी में पुलिस द्वारा दो खिलाड़ियों की नशे के आरोप में गिरफ्तारी, एक स्टिंग ऑपरेशन ने पाँच खिलाड़ियों का स्पॉट फिक्सिंग में लिप्त पाया जाना प्रमुख हैं।

आज आईपीएल के नाम पर जो तमाशा हो रहा है और बाजार इसे जिस तरह से अपनी जकड़ में ले चुका है, वहाँ खेल कहीं पीछे छूट गया है। क्रिकेट के नाम पर हो रहे मनोरंजन से खेलों का आदर्श पूरी तरह मटियामेट हो गया है और आईपीएल दुनिया भर के सट्टेबाजों के लिए धन लगाने का एक ठिकाना बन गया है जिसमें नेता, अभिनेता, पूँजीपति, मीडिया तथा परजीवियों की पूरी जमात शामिल है।

क्रिकेट का खेल हमारे देश में मनोरंजन का बेहद महँगा साधन है। ज्यादातर लोग इसे खुद नहीं खेलते बल्कि दूसरों को खेलते देखते हैं। कुछ मुड़ी भर रईस लोग ही इस खेल में

प्रत्यक्ष हिस्सेदारी कर पाते हैं। बाकी करोड़ों लोग इसे टीवी पर ही देख पाते हैं। फिर भी क्रिकेट का जुनून करोड़ों के सर पर सवार है और यही कारण है कि आज आईपीएल एक ऐसे साधन के रूप में आ गया जो मुनाफाखोरी का जरिया बन गया। नैतिकता को शर्मशार करती ऐसी घटनाओं के बावजूद इसका फलना-फूलना यही दर्शाता है।

अभी पाँच खिलाड़ियों पर पैसे के लेन-देन के आरोप लगे। यह स्टिंग ऑपरेशन पिछले आईपीएल के दौरान यानी 2011 में हुआ था। इन सभी खिलाड़ियों को मैच फिक्सिंग में लिप्त मानते हुए भारतीय क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड (बीसीसीआई) ने निलंबित कर दिया था। बीसीसीआई भारत जैसे गरीब देश में विश्व के सबसे धनी खेल संघों में से एक है और देश-दुनिया के धनकुबेरों द्वारा खिलाड़ियों की ऊँची-ऊँची बोलियाँ लगवाती है। ऐसे में इन खिलाड़ियों से खेल के किस आदर्श की उम्मीद की जा सकती है। जिस खेल में धन लोलुपता ऊपर से नीचे तक सभी को अपनी गिरफ्त में ले चुकी है वहाँ खिलाड़ी ही भला क्यों पीछे रहें? वे भी जल्दी से जल्दी और अधिक से अधिक पैसा बनाना चाहते हैं। इसके लिये वे किसी भी हद तक नीचे गिरने को तैयार हैं। वे भ्रष्ट मंत्रियों और नेताओं को अपना आराध्य मानते हैं और उन्हीं के रास्ते का अनुसरण करना चाहते हैं।

यह तो है क्रिकेट की हालत, लेकिन हमारे देश में अन्य खेलों की स्थिति क्या है? स्वास्थ्य और मनोरंजन के हिसाब से देखा जाय तो कोई भी खेल छोटा या बड़ा नहीं होता। सभी

का उद्देश्य शारीरिक तथा मानसिक विकास करना है। मगर हो इसका उल्टा ही रहा है। क्रिकेट के विपरीत अन्य खेलों, जैसे- कबड्डी, वॉलीबॉल, फुटबाल, हॉकी, तीरंदाजी, बेसबॉल आदि को हाशिये पर फेंक दिया गया है। कारण यह कि अन्य खेल क्रिकेट की तरह रंगारंग मनोरंजन करने तथा मुनाफा देने वाले नहीं हैं।

क्रिकेट आज अरबों-खरबों का व्यापार बन गया है। इसमें विज्ञापन के साथ-साथ देशी-विदेशी कम्पनियों की दखलंदाजी तेजी से बढ़ रही है। दूसरी ओर हॉकी, कबड्डी, तीरंदाजी, बेसबॉल, वॉलीबॉल जैसे खेलों का आयोजन करने के लिए प्रायोजक ही नहीं मिलते हैं। ये सभी तथ्य अलग-अलग खेलों के प्रति जबरदस्त उपेक्षा को उजागर करते हैं।

अभी पिछले दिनों विश्व शतरंज का खिताब जीत कर लौटे विश्वनाथन आनंद और इंडोनेशिया ओपन जीतकर लौटी सायना नेहवाल का स्वागत करने के लिए फेडरेशन के अधिकारी और कुछ रिश्तेदार ही मौजूद थे। लेकिन कोलकाता नाईट राईडर्स की जीत के जश्न पर पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी ने इंडेन गार्डेन मैदान में भव्य स्वागत समारोह आयोजित किया। एक घरेलू और वह भी व्यावसायिक क्लब की जीत पर इतना सरकारी धन खर्च करने के औचित्य पर सवाल उठना लाजिमी है।

वैसे तो क्रिकेट का खेल ही उपनिवेशवादी अंग्रेजों की खोज है और आज भी उन्हीं देशों में खेला जाता है जो कभी ब्रिटेन के गुलाम थे। हमारे देश में भी इसकी शुरुआत अंग्रेजी राज में ही अंग्रेजों, उनके चाटुकारों और राजा-रजवाड़ों ने की थी। आज भी औपनिवेशिक गुलामी का हमारे शासक वर्ग पर काफी असर है। इसी का सबूत है कि आजादी के बाद हॉकी को राष्ट्रीय खेल का दर्जा मिलने के बावजूद अन्य खेलों की तुलना में सिर्फ क्रिकेट को ही बढ़ावा दिया जाता है। 90 के दशक में साम्राज्यवादी वैश्वीकरण का हिस्सा बनने और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आने के साथ ही उनके विज्ञापन और मुनाफे का जरिया बन गया। लोगों के दिमाग में क्रिकेट का जूनून भरने के लिए हर तरह के उपाय किये गये। टीवी, रेडियो, अखबार और पत्र-पत्रिकाओं को क्रिकेट के प्रचार में लगा दिया गया। हर मैच का सीधा प्रसारण और उस पर लम्बी चर्चाएँ की गयीं। इस तरह क्रिकेट को देश की अस्मिता और क्रिकेट खिलाड़ियों को देश के नये नायकों के रूप में भारतीय समाज

में आरोपित कर दिया गया।

सरकार द्वारा आईपीएल को प्रोत्साहन दिये जाने का फायदा देशी-विदेशी थैलीशाहों को मिला जो अपने काले धन को आईपीएल मैचों में निवेश करते हैं और गढ़े गये नायकों द्वारा अपने माल का प्रचार कराते हैं। मैच के दौरान दो देशों यहाँ तक कि देश के दो इलाकों के बीच उन्माद का माहौल बनाकर दर्शकों की संख्या बढ़ायी जाती है, ताकि उनके आगे विज्ञापन परोसा जाये। सरकार क्रिकेट का व्यापार करने वालों के आगे नतमस्तक रहती है और उन्हें कई तरह की छूट देती है। भुखमरी के दौर में भी खाद्य सहायता राशि और अन्य सुविधाओं में कटौती करके बचाया गया धन क्रिकेट मैच की रौनक बढ़ाने में झोंक दिया जाता है।

आज क्रिकेट को खेल के रूप में नहीं, बल्कि ऐसे व्यापार के रूप में स्थापित किया जा रहा है जिसका उद्देश्य मुनाफा कमाना और लोगों का ध्यान बँटाना है। तभी तो हमारे नौजवान गरीबी, बेरोजगारी और भुखमरी जैसी असली समस्याओं पर विचार करने के बजाय क्रिकेट के नशे में चूर रहते हैं। जैसे-जैसे देश में अमीरी-गरीबी के बीच की खाई बढ़ी है, वैसे-वैसे खेल-खेल के बीच की खाई भी चौड़ी होती गयी है। गरीब परिवारों को दो जून की रोटी जुटाने के लिए दिन-रात खटना पड़ता है। उनके जीवन में मनोरंजन और खेल के लिए कोई जगह नहीं है। दूसरी ओर परजीवी वर्गों की दुनिया और भी रंगीन और लुभावनी होती जा रही है। क्रिकेट भी उनकी अभिजात जिन्दगी का हिस्सा है। उनके जूठन के रूप में निचले पायदान पर खड़े लोग भी उसका दूर-दूर से मजा ले लेते हैं। छात्र-नौजवान इस नशे से दूर रहकर ही अपने भविष्य को सँवारने का सपना देख सकते हैं और उसे जमीन पर उतार सकते हैं। □

राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन योजना घोटाला- कोई ओर छोर नहीं

पिछले दो वर्षों में देश-भर में हुए घोटालों की बहुत लम्बी फेहरिस्त है। इसी में एक नाम है उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्य विभाग का राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (एनआरएचएम) घोटाला, जो कई मायनों में अन्य घोटालों से अलग है। घोटाले की धनराशि के लिहाज से यह भले ही 2 जी घोटाले जैसा विराट न हो, लेकिन ऐसा रहस्यमय और खूनी घोटाला शायद ही अब से पहले कभी सुनने को मिला हो। अब तक इस घोटाले में कुल आधा दर्जन हत्याएँ और आत्महत्याएँ हो चुकी हैं। जिनमें बड़े-छोटे हर स्तर के अधिकारी शामिल हैं। जिला स्तर के मुख्य चिकित्सा अधिकारी विनोद आर्य की 27 अक्टूबर 2010 को तथा बीपी सिंह की 2 अप्रैल 2011 को गोली मारकर हत्या कर दी गयी। दोनों की हत्या एक ही असलहे से की गयी। हत्या के आरोपी उपचिकित्सा अधिकारी वाई एस सचान की हत्या 22 जून 2011 को कर दी गयी। उन्हें अगले ही दिन न्यायालय में पेश होना था।

इन तीन हत्याओं के बाद इस उलझे हुए मामले की जाँच का जिम्मा सीबीआई को सौंप दिया गया। जाँच का दबाव पड़ने पर प्रोजेक्ट मैनेजर सुनील वर्मा ने लखनऊ स्थित अपने आवास पर गोली मारकर आत्महत्या कर ली। सीबीआई द्वारा पूछताछ के लिये बुलाये गये उपमुख्य चिकित्सा अधिकारी (बनारस) की हत्या 15 फरवरी 2012 को हुई, जिसे पुलिस ने सड़क दुर्घटना का नाम देकर टालने की कोशिश की। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य विभाग के एक लिपिक महेंद्र शर्मा भी अपने आवास पर मृत पाये गये।

घोटाले की खबर आते ही इसके आरोपी, परिवार कल्याण मंत्री बाबू सिंह कुशवाहा और स्वास्थ्य मंत्री अनंत कुमार को पदमुक्त करके इस मामले को ठण्डा करने की कोशिश की गयी। धीरे-धीरे शक की सुई तत्कालीन मुख्यमंत्री मायावती की ओर जाने लगी। अब तक दो दर्जनों से अधिक चिकित्सकों और कर्मचारियों को इस घोटाले में लिप्त होने के आरोप में पदमुक्त किया जा चुका है।

एनआरएचएम केन्द्र सरकार की योजना है। इसके तहत ग्रामीण स्वास्थ्य सुधार कार्यक्रमों का संचालन किया जाता है। इसके लिये हजारों करोड़ की धनराशी आवंटित की जाती है।

उत्तर प्रदेश में इस योजना की शुरुआत 2005 में समाजवादी पार्टी के शासनकाल में हुई थी और बाद में यह बसपा सरकार के शासन में भी जारी रही।

इस घोटाले में लगभग पाँच हजार सात सौ चब्वन करोड़ (5,754 करोड़) रुपये का बंदरबॉट हुआ। इसके चलते निविदा प्रक्रिया में गड़बड़ी की गयी। बेहद सस्ते सामानों को ऊँचे दामों में खरीदा गया। 550 स्वास्थ्य केन्द्रों के निर्माण का प्रस्ताव था, जिन्हें पूरा नहीं किया गया। खरीदे गये वाहनों का प्रयोग अधिकारियों ने निजी कामों के लिये किया। कार्यक्रम प्रबंधन नाम से गैर पंजीकृत विभाग बनाकर 1,546 करोड़ की हेरा-फेरी की गयी। गौरतलब यह है कि इसमें न केवल स्वास्थ्य विभाग, बल्कि समाज कल्याण विभाग के अध्यक्ष, लघु उद्योग संघ के अध्यक्ष और जिला अधिकारियों समेत कुछ निजी कम्पनियों के मालिक भी शामिल हैं।

यह घोटाला भ्रष्टाचार की गहरी पैठ को और अधिकारियों-पूँजीपतियों की आपसी साँठ-गाँठ को भी उजागर करता है। ऊँची-ऊँची तनख्राहें पाने वाले अधिकारी आखिर ऐसा क्यों करते हैं? क्या यह सम्भव है कि बिना शीर्षस्थ नेताओं की सहमति के इतना बड़ा घोटाला हो सके? क्या इससे जुड़े छः लोगों की एक के बाद एक हुई हत्याएँ बड़ी मछलियों की ओर इशारा नहीं कर रही हैं? जाँच भी महज रस्म अदायगी के लिये की जा रही है, जिसका परिणाम क्या होना है, यह किसी से छिपा नहीं है।

इस पूरे प्रकरण में विपक्षी दलों की भूमिका पर भी सवाल उठता है, जिन्होंने इसे मुद्दा बनाने में पूरी लापरवाही बरती। जब सदन में विपक्ष की भूमिका समाप्त होने लगे या पक्ष-विपक्ष में कोई फर्क न रह जाये तो उस व्यवस्था का स्वेच्छाचारी हो जाना लाजिमी है। जहाँ किसी भी घटना के विरुद्ध कोई प्रभावी आंदोलन न हो, वहाँ लोकतंत्र की हिफाजत भला कैसे सम्भव है? मीडिया ने भी इसे कुछ दिन बाद ही मुख्य पृष्ठ से हटाकर कोने में पहुँचा दिया। पूँजीपतियों और नेताओं के इशारे पर काम करने वाली इस मीडिया के चरित्र को इसी से समझा जा सकता है।

उत्तर प्रदेश जैसे भारी आबादी वाले राज्य में जहाँ देश के

बहुसंख्यक कुपोषित और बीमार लोग निवास करते हैं, जहाँ महामारी सबसे पहले दस्तक देती हो, जहाँ दवाइयों के अभाव में लोगों की असमय मृत्यु आम बात हो, उस राज्य में स्वास्थ्य सेवाओं में घोटाला क्या जनता के प्रति एक क्रूर मजाक नहीं है?

यह घोटाला पूँजीवाद के मूल चरित्र “मुनाफे की हवस” को उजागर करता है, जिसके चलते नेता-अधिकारी-पूँजीपति आपसी साँठ-गाँठ से लोगों के खून पसीने की कमाई और जायज

हक को अपनी तिजोरी में भरते हैं। जो व्यवस्था आम आदमी के दुःख-दर्द और परेशानियों को दर-किनार करके दिन-रात पैसा बनाने में जुटी हो, उससे किसी तरह की उम्मीद करना बेमानी है। अगर हम चाहते हैं कि हमारी बुनियादी जरूरतें पूरी हों तो उसके लिये हमें सचेत और एकजुट होकर इस व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करना होगा। □

‘अपना घर’ समाज सेवा का विभत्स चेहरा

रोहतक (हरियाणा) में एक ऐसे यातनागृह का पता चला है, जहाँ 101 महिलाओं और बच्चों को भयावह स्थिति में कैद करके रखा जाता था। इस कैदखाने का नाम है ‘अपना घर’ जो ‘भारत विकास संघ’ नामक एक गैर सरकारी संस्था द्वारा चलाया जाता है। ‘अपना घर’ में देश भर से अनाश्रित बच्चों और महिलाओं को आश्रय देने के लिये भेजा जाता है, जिसका खर्च सरकारी सहायता से चलता है। इस ‘अपना घर’ की मुखिया जसवंती देवी हैं। जब अपना घर का खुलासा हुआ तो पुलिस ने उनको और उनके दामाद जय भगवन को हिरासत में ले लिया। जाँच-पड़ताल के दौरान एक-एक कर जो घटनाएँ सामने आयीं हैं, वे दिल दहला देने वाली हैं।

उच्च न्यायालय के निर्देश पर पूरे मामले की जाँच के लिये चार सदस्यीय टीम गठित की गयी। उस टीम ने 28 पेज की अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है जो उस कैदखाने के बंदियों की ऐसी दर्दनाक कहानियों से भरे पड़े हैं, जिनमें यौन शोषण, शारीरिक-मानसिक उत्पीड़न, कठोर श्रम और अमानवीय शोषण शामिल हैं। एडवोकेट अनिल मल्होत्रा और सुदीप्ति शर्मा द्वारा प्रस्तुत इस रिपोर्ट में दो प्रौढ़ महिलाओं ने बयान दिया है कि उन्हें होटल ले जाया जाता था, जहाँ पुलिस वाले उनके साथ पाशविक, घृणास्पद और यंत्रणादायी यौन क्रिया करते थे। बंदियों ने बताया कि उन्हें मंदिरों और बाजारों में चोरी करने के लिये मजबूर किया जाता था और अगर वे इस काम में ‘चूक’ करती थीं, तो उनकी पिटाई की जाती थी और उनके बाल मुँडवा दिये जाते थे। बंदी महिलाओं के बच्चों को उनकी सहमति के बिना ही गोद देने के नाम पर किसी को बेच दिया जाता था। रिपोर्ट के अनुसार 5 साल के बच्चों के साथ, जिनमें लड़के भी शामिल हैं, ऐसे अमानुषिक कुकृत्य किये जाते थे, जिनको शब्दों में बयान करना मुश्किल है। कुछ युवतियों को रात में पार्टियों

में नाचने और दूसरे अनैतिक काम करने के लिये बाध्य किया जाता था। ‘अपना घर’ के निवासियों से इस तरह के काम करवाने से पहले उन्हें नशीले पदार्थ दिये जाते थे, जिसके चलते उनको नशे की लत लग गयी है।

बंदियों ने बताया कि उन्हें कई दिनों तक भूखा रखा जाता था। उनसे खेती और घर के सब तरह के काम करवाये जाते थे। जसवंती देवी और उनका दामाद उन्हें उल्टा लटकाकर डंडे से पीटते थे। एक बंदी ने बताया कि जसवंती देवी का दामाद जय भगवान और पुलिस अक्सर उसका यौन शोषण करते थे। ‘अपना घर’ के एक बंदी ने बताया कि उन्हें रोजगार दिलाने के बहाने दिल्ली ले जाया जाता है और धोखे से उन्हें वैश्यावृत्ति में फँसा दिया जाता है। अपना घर के आसपास रहने वाले लोगों का कहना है कि ‘अपना घर’ धरती पर एक नर्क जैसा है जहाँ से रात में बच्चों के चीखने-चिल्लाने और रोने-कलपने की आवाजें सुनायी देती थीं, लेकिन कोई भी इस बारे में जसवंती देवी से बात करने की हिम्मत नहीं जुटा पाता था। वहाँ के लोगों के अनुसार जसवंती देवी बड़े नेताओं से सम्बन्ध रखने वाली एक ‘हार्ड प्रोफाइल’ महिला हैं। जसवंती देवी की ताकत का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उसकी बेटी की शादी में हरियाणा के जाने माने नेता, पुलिस अधिकारी और समाज में ऊँची हैसियत रखने वाले ढेर सारे लोग शामिल हुए थे।

‘अपना घर’ का निर्माण भी किसी कैदखाने जैसा ही है। यह चारों तरफ से बंद है और सामने 15 फुट ऊँचा गेट लगा हुआ है। जसवंती देवी की इजाजत के बगैर कोई भी इसके अंदर या बाहर नहीं जा सकता। आखिर कौन है जसवंती देवी और वह कैसे इस मुकाम तक पहुँची? 90 के दशक में जसवंती देवी रोहतक में एक एनजीओ के साथ काम करती थी। इसके बाद उसने भारत विकास संघ नाम से अपने एनजीओ की शुरुआत

की जिसके लिये सरकार से उसे सहायता राशि मिलती थी। हकीकत का भण्डाफोड़ होने से पहले तक जसवंती देवी सरकार द्वारा प्राप्त आर्थिक सहायता से चार सरकारी प्रोजेक्ट चलाती थी, जिनमें एक बेसहारा महिलाओं के लिये घर, एक बच्चों के लिये आश्रय स्थल, एक महिलाओं के लिये शरण-स्थल और एक 'अपना घर', जो इस समय चर्चा के केन्द्र में है। हरियाणा के मुख्यमंत्री की पत्नी और हरियाणा की महिला एवं बाल विकास मंत्री ने जसवंती देवी को इंदिरा गाँधी महिला शक्ति पुरस्कार प्रदान किया था। बेसहारा महिलाओं की सहायता के लिये उसे 2011 में राष्ट्रीय पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया था। अपने राजनीतिक प्रभाव के चलते उसने अपने एनजीओ भारत विकास संघ के लिये सरकार द्वारा चलाये जा रहे विभिन्न कल्याणकारी कार्यक्रमों के मद में करोड़ों रुपये का फण्ड हासिल किया।

देश की आम जनता के लिये जरूरी मूलभूत सेवाओं से सरकार 1991 के बाद नवउदारवादी नीतियों के तहत अपना हाथ खींचती जा रही है और इन सेवाओं का जिम्मा 'सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त प्रोजेक्ट' के नाम पर किसी व्यक्ति विशेष या किसी एनजीओ को सौंपती जा रही है। अक्सर ही इन संस्थाओं और एनजीओ के में होने वाले तरह-तरह के कुकर्मों

का भण्डा फोड़ होता रहता है। सदाशयी और कल्याणकारी संस्थाओं को चलाने वाले कितने नीच और अमानवीय कुकृत्य कर सकते हैं, उसका एक ताजा उदाहरण 'अपना घर' है। हमारे देश में ऐसी हजारों संस्थाएँ व एनजीओ हैं जो अपना घर या उससे मिलती-जुलती सेवाएँ देने के नाम पर कार्यरत हैं। हम अनुमान लगा सकते हैं की पूरे देश में और भी कितने 'अपना घर' जैसे यातना गृह हैं, जहाँ हजारों लोगों को ऐसे ही अमानवीय और घृणित काम करने को मजबूर किया जाता होगा।

पूँजीवाद की नैतिकता यही है चाहे जैसे भी हो सके भरपूर पैसा कमाना। पतनशील पूँजीवाद के मौजूदा दौर में किसी कल्याणकारी, परोपकारी संस्था का अमानवीयता की सारी हदें लाँघ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। 'अपना घर' की मालकिन के खिलाफ जाँच कर रहे पुलिस दल पर जब सवालिया निशान उठे और उसने खुद भी दबावों के चलते जाँच करने से हाथ उठा दिया, तब जाँच का जिम्मा सीबीआई को सौंप दिया गया। लेकिन ऊँचे स्तर के नेताओं-अधिकारियों के साथ गहरे रिश्तों को देखते हुए इन भयावह कुकृत्यों के संचालकों का कुछ बिगड़ पायेगा ऐसा नहीं लगता। ऐसी कहानियों का अंत तो पूँजीवादी व्यवस्था के अंत के साथ ही मुमकिन है। □

ग्लैक्सो-स्मिथक्लीन पर धोखाधड़ी के जुर्म में 3 अरब डॉलर का जुर्माना

समाचार एजेंसी रायटर्स की एक रपट के मुताबिक ब्रिटिश दवा कम्पनी ग्लैक्सो-स्मिथक्लीन ने अपने घटिया कुकृत्य के लिये लगाये गये एक आपराधिक आरोप को स्वीकारने और 3 अरब डॉलर का जुर्माना भरने पर सहमति दे दी है, जिसे अमरीकी अधिकारी वहाँ के इतिहास में स्वास्थ्य सम्बन्धी धोखाधड़ी का सबसे बड़ा मामला बताते हैं।

अमरीकी न्याय विभाग की जाँच के मुताबिक ग्लैक्सो ने पैक्सिल नामक अवसादरोधी दवा बिना मंजूरी लिये 18 साल से कम उम्र के रोगियों को बेची जो केवल वयस्कों के लिए मान्य थी। वजन घटाने और नपुंसकता का इलाज करने के नाम पर उसने वेल्बुट्रिन नाम की ऐसी दवा बेची जिसे इन कामों के लिये प्रयोग की अनुमति नहीं मिली थी।

अभियोक्ताओं के मुताबिक इन दवाओं की बिक्री बढ़ाने के लिए ग्लैक्सो कम्पनी ने मेडिकल जर्नल का एक गुमराह करने वाला लेख बाँटा तथा डॉक्टरों को आलिशान दावत और

स्वा उपचार जैसी सुविधाएँ मुहैया की जो गैरकानूनी रिश्वत जैसा ही है। इसके अलावा कम्पनी के विक्रय प्रतिनिधियों ने डॉक्टरों को हवाई द्वीप पर छुट्टी मनाने, मेडोना के कार्यक्रम का टिकट देने और सेमिनार का खर्चा उठाने पर करोड़ों डॉलर खर्च किये।

तीसरे मामले में कम्पनी ने डायबिटीज की दवा अवाण्डिया के बारे में अमरीकी खाद्य एवं औषधि विभाग को सुरक्षा डाटा नहीं दिया जो कानून के खिलाफ है। यह दुराचार 90 के दशक से शुरू हो कर 2007 तक जारी रहा।

ग्लैक्सो कम्पनी ने इन तीनों मामलों में आपराधिक अभियोगों को स्वीकारने पर अपनी सहमति दी है। यह मामला खास तौर से मायने रखता है, क्योंकि कॉरपोरेट दुराचार के मामलों में अपराध स्वीकारना बहुत ही दुर्लभ घटना हुआ करती है। इस इल्जाम का दायरा और अहमियत इतनी बेमिसाल है कि अमरीकी अधिकारी इसे "ऐतिहासिक कार्रवाई" और "गैर कानूनी कामों में लिप्त कम्पनियों के लिए साफ चेतावनी" बता रहे हैं।

समझौते में कम्पनी को एक अरब डॉलर का अपराधिक और दो अरब डॉलर का दीवानी जुर्माना चुकाना होगा। इस मामले ने 2009 के उस फैसले को पीछे छोड़ दिया है जिसमें अमरीकी अदालत ने एक अन्य दवा कम्पनी फाइजर पर 13 दवाओं की अवैध बिक्री के अभियोग में 2.3 अरब डॉलर का जुर्माना लगाया था।

भारत में इन विदेशी बहुराष्ट्रीय दवा कम्पनियों की अपराधिक गतिविधियों का तो कोई अंत ही नहीं है। दुनिया भर

में प्रतिबंधित दवाएँ तथा गैरकानूनी और बिलाइजाजत दवाएँ यहाँ धड़ल्ले से बिकती हैं। जिन दवाओं का जानवरों पर परीक्षण करना भी विदेशों में वर्जित है, उनको यहाँ आदमी पर आजमाया जाता है। दवाओं की कीमत का तो कोई हिसाब ही नहीं। फिर भी यहाँ इन पर कोई अंकुश नहीं है। तय करना मुश्किल है कि इन मानवद्रोही कुकृत्यों के लिए इन विदेशी कम्पनियों और हमारे देशी शासकों में से किसका अपराध ज्यादा संगीन है। □

अमरीका : स्वर्ग में सड़ांध -1

अमरीकी गैरबराबरी के बारे में कुछ निर्मम सच्चाइयाँ

अमरीका में गैरबराबरी के अध्ययन से कुछ ऐसे तथ्य उजागर होते हैं जिन पर विश्वास करना सचमुच कठिन है।

1. संयुक्त राज्य अमरीका की कम्पनियाँ सबसे कम आय वाले 20 प्रतिशत अमरीकियों की तुलना में कुल मिलाकर बहुत ही कम प्रतिशत कर चुकाती हैं।

2011 में कुल कॉरपोरेट मुनाफा 1970 अरब डॉलर था। जिसमें से कॉरपोरेटों ने 181 अरब डॉलर (9 प्रतिशत) संघीय कर और 40 अरब डॉलर (2 प्रतिशत) राज्य कर के रूप में अदा किया। यानी उनका कुल कर भार केवल 11 प्रतिशत था। सबसे गरीब 20 प्रतिशत अमरीकी जनता ने संघ, राज्य और स्थानीय निकायों को अपनी आमदनी का 17.4 प्रतिशत कर के रूप में चुकाया।

2. अत्यधिक मुनाफा और कर भुगतान से बचने वाले तकनीकी उद्योग को सरकारी खर्च से हुए अनुसंधान के जरिये खड़ा किया गया था।

तकनीकी क्षेत्र किसी अन्य उद्योग की तुलना में सरकारी अनुसंधान और विकास पर कहीं अधिक निर्भर रहे हैं। अमरीकी सरकार ने 1980 से ही तकनीक और संचार में बुनियादी शोधों के लिए लगभग आधे के बराबर वित्तीय सहायता मुहैया की। आज भी संघीय अनुदान विश्वविद्यालयों में होने वाले अनुसंधानों का लगभग 60 प्रतिशत खर्च वहन करता है।

आईबीएम की स्थापना 1911 में, हेवलेट्ट-पैक्कार्ड की 1947 में, इन्टेल की 1968 में, माइक्रोसॉफ्ट की 1975 में,

एप्पल और ओरेकल की 1977 में, सिस्को की 1984 में हुई थी। ये सभी सरकार और सेना के नयी खोजों पर निर्भर थीं। अभी हाल ही में निगमित गूगल की शुरुआत 1996 में हुई, जिसका विकास रक्षा विभाग के अपर्नैट प्रणाली और नेशनल साईंस फेडरेशन के डिजिटल पुस्तकालय पहल के माध्यम से हुआ।

2011 में इन सभी कम्पनियों का सम्मिलित संघीय कर भुगतान महज 10.6 प्रतिशत था।

3. शेयर बाजार में वित्तीय उपकरणों के 10 हजार महाशंख (क्वाड्रीलियन, यानी 10 पर 23 शून्य वाला अंक) डॉलर की बिक्री पर कोई कर नहीं।

अंतरराष्ट्रीय भुगतान बैंक द्वारा प्रस्तुत 2008 की रिपोर्ट के मुताबिक कुल वार्षिक व्युत्पत्ति (डेरिवेटिव) व्यापार 11.4 हजार महाशंख डॉलर था। इसी साल शिकागो वाणिज्यिक विनिमयन की रिपोर्ट के मुताबिक यह व्यापार 12 हजार महाशंख डॉलर था।

10 हजार महाशंख डॉलर पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था (सकल विश्व वार्षिक उत्पाद) से 12 गुना से भी अधिक है। यह अमरीका के प्रत्येक आदमी को 30 लाख डॉलर देने के लिए पर्याप्त है। लेकिन एक मायने में यह असली मुद्रा नहीं है। इसमें ज्यादातर कम्प्यूटर के जरिये होने वाला एक प्रकार का ऊँची मात्रा का नैनो सेकेण्ड व्यापार है जिसने हमारी अर्थव्यवस्था को लगभग तबाह कर दिया है। इसलिए इसके ऊपर एक छोटा

समाचार-विचार

सा बिक्री कर पूरी तरह न्यायोचित है। लेकिन इस पर कोई बिक्री कर नहीं है।

आप बाहर जाकर जूता या आई फोन खरीदिए तो इसके लिए आपको 10 प्रतिशत से ज्यादा बिक्री कर अदा करना होगा। लेकिन वॉलस्ट्रीट जाइये और दस लाख डॉलर के बेहद जोखिम भरे क्रेडिट डिफाल्ट स्वेप खरीदिये और शून्य प्रतिशत कर चुकाइये।

4. बहुत से अमरीकियों को देश की कुल आय में प्रति डॉलर एक सेंट हिस्सा मिलता है।

श्वेत परिवारों के मालिकाने वाले प्रति डॉलर गैर आवासीय सम्पत्ति की तुलना में अश्वेत लोगों के पास महज एक सेंट की सम्पत्ति है।

0.1 प्रतिशत सबसे अमीरों की 1980 में जितनी सम्पत्ति थी उसमें चार गुने की बढ़ोत्तरी हुई। वहीं 90 प्रतिशत सबसे गरीबों की सम्पत्ति में सिर्फ एक प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई।

-अमरीका की कुल वित्तीय प्रतिभूतियों (जैसे बॉण्ड) में नीचे के 90 प्रतिशत अमरीकियों का हिस्सा केवल डेढ़ प्रतिशत है बाकी 98.5 प्रतिशत ऊपर के 10 प्रतिशत अमीरों के कब्जे में है।

-बोईंग, डूपोन्ट, वेल्स फार्गो, वेरीजॉन, जनरल इलेक्ट्रिक्स और डॉव केमिकल्स को 2008-2010 में हुए कुल मुनाफे में से अमरीकी सरकार को कर के रूप में केवल एक प्रतिशत प्राप्त हुआ।

5. हमारा समाज एक आदमी या एक परिवार को इतनी सम्पत्ति रखने की छूट देता है जितने से दुनिया के सभी भूखे लोगों का पेट भरा जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के आकलन के मुताबिक दुनिया की भूखमरी को पूरी तरह से खत्म करने के लिए 3 अरब डॉलर की जरूरत है। जबकि बहुत से अमरीकियों की निजी सम्पत्ति इस धन राशि से ज्यादा है।

दुनिया में 92.5 करोड़ लोगों को पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। विश्व खाद्य कार्यक्रम के अनुसार एक आदमी के भोजन के लिए एक साल में लगभग 100 डॉलर की जरूरत है। यानी इसके लिए कुल 92 अरब डॉलर की दरकार है जो वालमार्ट के 6 उत्तराधिकारियों की सम्पत्ति के बराबर है।

अपमान की चरम सीमा

एक हेज फण्ड मैनेजर ने (जॉन पॉलसन) 2007 में एक वित्तीय कम्पनी (गोल्डमैन सैक्स) के साथ षडयंत्र करके जोखिम

भरे सबप्राइम बंधक पत्र तैयार किये ताकि मकान की कीमतें गिरने का पूर्वानुमान करके अपने द्वारा तैयार किये हुए निश्चित तौर पर असफल वित्तीय उपकरण के ऊपर दाँव खेलने में वह दूसरे लोगों के पैसों का उपयोग कर सके। उसे इस सफलता पूर्वक खेले गये जुए में 3.7 अरब डॉलर की कमाई हुई। तीन साल बाद उसने 5 अरब डॉलर और बनाये जो वास्तविक दुनिया में 1,00,000 स्वास्थ्य कर्मियों की तनखाह देने के लिये पर्याप्त होता।

मध्यम वर्गीय करदाताओं की और ज्यादा बेइज्जती के लिए पॉलसन की आय के ऊपर महज 15 प्रतिशत टैक्स लगाया गया। दुगनी बेइज्जती के रूप में वह चाहे तो इस सब पर कोई कर अदा नहीं करेगा क्योंकि हेज फण्ड के मुनाफे को अनिश्चित काल के लिए टाला या छुपाया जा सकता है। तिगुनी बेइज्जती, कि उसके लाभ का एक भाग खुद उन्हीं मध्यम वर्गीय करदाताओं के पैसे से हुआ जिसके जरिये उस (एआईजी) कम्पनी को डूबने से बचाया (बेल आउट) गया जिसे उस जुआरी को दाँव में जीता हुआ पैसा चुकाना था।

और जिन लोगों को हमने अपने हितों की रक्षा के लिए चुना वे इस बारे में कुछ भी कर पाने में अनिच्छुक या असमर्थ हैं।

(लेखक पॉल बॉकेट डीपॉल विश्वविद्यालय में आर्थिक असमानता विषय के अध्यापक हैं। वह सामाजिक न्याय और शैक्षणिक वे 'अमेरिकन वार: इल्यूजन एण्ड रियेलिटी' (क्लैरिटी प्रेस) के सम्पादक और मुख्य लेखक हैं। काउन्टर पंच में प्रकाशित इस लेख का अनुवाद पारिजात ने किया है।) □

अमरीका : स्वर्ग में सड़ांध -2

वेश्यावृत्ति का घृणित व्यापार

देह-व्यापार के लिए नाबालिग लड़कियों की खरीद-फरोख्त करने वाली एक वेबसाइट में अमरीकी बैंक गोल्डमैन सैक्स के शेयरों की हिस्सेदारी 16 प्रतिशत है। यह खुलासा न्यूयॉर्क टाइम्स के पत्रकार निक क्रिस्टोफ ने किया है। गोल्डमैन सैक्स के मैनेजिंग डायरेक्टर, स्कॉट एल लिवोबित्ज, इस साईट की मालिक कम्पनी 'विलेज वायस मीडिया' के बोर्ड ऑफ डियरेक्टर्स में से एक थे।

व्यापार संगठन एआईएम ग्रुप के अनुसार वेश्यावृत्ति सम्बंधित विज्ञापनों में उस वेबसाइट की हिस्सेदारी बाजार का 70 प्रतिशत है। हाल ही में न्यूयॉर्क सिटी की एक घटना प्रकाश में आयी थी जिसमें 15 साल की एक लड़की को ड्रग देकर, हाथ-पाँव बाँधकर उसके साथ बलात्कार किया गया था। उस लड़की को इसी वेबसाइट के जरिये बेचा गया था। □

अमरीका : स्वर्ग में सड़ांध -3

अमरीका में बच्चों की खरीद-बिक्री का घिनौना व्यापार

“मेरे साथ बलात्कार किया गया। एक कार चालक ने मुझे धक्का मारकर घायल कर दिया। मुझे बन्दूक से डराया गया। मुझे ऐसे काम करने को मजबूर किया गया जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते”- ये शब्द जेसिका के हैं जिसको उसके बचपन में ही वेश्यावृत्ति में धकेल दिया गया था। जेसिका ने यह बयान लॉस एंजिल्स में चलाये जा रहे बाल वेश्यावृत्ति विरोधी अभियान के दौरान छुड़ाये जाने के बाद दिया।

बाल वेश्यावृत्ति अमरीका में तेजी से फलते-फूलते व्यापार का रूप ले चुकी है। नशीले पदार्थ के व्यापार के बाद यह सबसे ज्यादा मुनाफा देने वाला पेशा बन गया है। बाल वेश्यावृत्ति अमरीका में किस हद तक जारी है इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि यहाँ ढाई लाख से ज्यादा बच्चों को वेश्यावृत्ति में धकेल दिया गया है। यह तथ्य अमरीका के न्याय विभाग द्वारा जारी किये गये आँकड़े से है। 12 से 14 साल के बच्चों का इस घृणित व्यापार में फँसने का खतरा सबसे ज्यादा है।

दलालों द्वारा बहला-फुसलाकर, जबरदस्ती और कई-कई तरह के हथकण्डों द्वारा इन बच्चों को इस व्यापार में फँसाया जाता है। एक 20 वर्षीय युवती जिसे इस धंधे से बचा लिया गया है, उसका कहना है कि कई बार तो बीमारी की हालत में भी उसे एक दिन में दस-दस घंटे तक, 10 आदमियों के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाने के लिए मजबूर किया जाता था। इस तरह कई पीड़ितों की मृत्यु भी हो जाती है।

पुलिस अक्सर इन बच्चों को ही अपराधी मानकर गिरफ्तार कर लेती है। जबकि सच्चाई यह है कि ये बच्चे देह व्यापार के शिकार हैं। कई मामलों में पुलिस और दलालों के बीच साँठ-गाँठ होती है। यह एक नये तरह का गुलाम व्यापार है। किसी बच्चे का इन दलालों की गिरफ्त से भाग जाने की सम्भावना बहुत ही कम होती है और अगर कभी कोई पीड़ित बच्चा ऐसी कोई कोशिश करता भी है तो उसकी हत्या कर दी जाती है।

एक पीड़िता जिसका नाम एमएस है, उसका कहना है कि- “मुझे भागकर पुलिस के पास जाने में भी डर लगता है, जिसकी वजह आप सब जानते हैं। मुझे नहीं लगता कि वे मेरी कोई मदद करेंगे। यह जानते हुए भी कि आप नाबालिग हैं पुलिस वाले आपके साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाना चाहते हैं। उन्हें हमारी कोई परवाह नहीं है।”

देह व्यापार में लिप्त ये बच्चे अगर किसी तरह इस धंधे से बच भी जाते हैं तो समाज उन्हें स्वीकार नहीं करता। एक पीड़िता “एसिया” जो किसी तरह बच गयी उसका कहना है कि समाज में उसे ऐसा कोई नहीं दीखता जो उसे स्वीकार कर लेगा। एमएस का कहना है कि डर और शर्म की वजह से वह अपने घर नहीं जाना चाहती। और जिस होटल में वह रहती है उससे बाहर निकलने में भी असुरक्षित महसूस करती है। उसका कहना है कि-“समाज उसके लिए एक अलग ही दुनिया है।”

पूँजीवाद के चरम पतन के इस मौजूदा दौर में बाजार अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा हिमायती अमरीका अब सब कुछ बाजार के हवाले कर चुका है, यहाँ तक कि बच्चों का बचपन भी खरीदने-बेचने की चीज बना दिया गया है। जिस तरह खरीददार को पूरा हक होता है कि वह अपनी खरीदी हुई चीज को जैसे चाहे इस्तेमाल करे और फेंक दे, अमरीकी समाज में ऐसा ही सलूक बच्चों के साथ किया जा रहा है।

हमारे देश के शासक वर्ग, मीडिया और बुद्धिजीवी अपने

निकृष्ट स्वार्थों के कारण और डॉलर की लालसा में अमरीकी समाज की सड़ांध पर पर्दा डालते हैं और उसे अपने आदर्श के रूप में पेश करते हैं। ऐसे ही वीभत्स और धिनौने मूल्य तथा चलन हमारे समाज में भी फैलाये जा रहे हैं। आये दिन ऐसी खबरें आती रहती हैं। भारतीय समाज में पहले से ही मौजूद सड़ांध और साम्राज्यवादी संस्कृति का यह मेल कोढ़ में खाज जैसी स्थिति तैयार कर रहा है। □

अमरीका : स्वर्ग में सड़ांध -4

बीस दिन में अमरीका के तीन शहर दिवालिया

अमरीकी चौधराहट वाली इस नयी विश्व व्यवस्था का कमाल देखिये- भारत में “गाँव बिकाऊ है” का बोर्ड टंग रहा है और अमरीका में “शहर दिवालिया है” की गुहार लग रही है।

पिछले तीन हफ्तों में अमरीका के तीसरे शहर साँ बर्नाडीनो की परिषद ने शहर के दिवालिया होने की घोषणा की है। यह हाल है अमरीका के सबसे धनी प्रान्त कैलिफोर्निया का। इससे पहले पिछले तीन हफ्तों में स्टॉकटन और मैमथ लेक्स शहर दिवालिया होने की घोषणा कर चुके हैं।

अमरीका में वित्तीय मंदी की बुरी हालत का इजहार करते हुए साँ बर्नाडीनो की परिषद ने बहुमत से फैसला लेकर दिवालिया होने की और सरकारी संरक्षण पाने के लिए अनुरोध किया है।

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) ने हाल में जानकारी देते हुए कहा था कि वह अमरीकी अर्थव्यवस्था में विकास दर के पूर्वानुमान को 2.1 से घटाकर 2 प्रतिशत कर रहा है।

इस दिवालिया होनेवाले शहर में लगभग 2,10,000 निवासी है और शहरी परिषद का बजट घाटा लगभग 4.6 करोड़ डॉलर है।

अधिकारियों ने चेतावनी दी थी कि परिषद शायद इस साल गर्मियों में अपने कर्मचारियों को वेतन भी न दे सकें।

लॉस एजिलिस से 60 किलोमीटर पूर्व में स्थित साँ बर्नाडीनो पर अमरीकी गृह ऋण संकट का खासा असर हुआ है। वहाँ के 5,000 घरों पर कब्जा करना पड़ा, क्योंकि उनके मालिक कर्ज नहीं चुका पाए थे। शहर में बेरोजगारी की दर राष्ट्रीय औसत आठ प्रतिशत के मुकाबले में 16 प्रतिशत है।

जिन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और बैंकों ने पूरी दुनिया को लूट-लूट कर तबाह किया है उनकी ही करतूत है कि भारत में “गाँव बिकाऊ है” का बोर्ड टंग रहा है और अमरीका में “शहर दिवालिया हो गया” का। तबाही का यह सिलसिला इजारेदार पूँजी के नाश के साथ ही खत्म होगा। □

vaɛkfo'dkɪD;kgS

सबूत के बावजूद या सबूत के बिना ही विश्वास करना।

इस बात पर यकीन करना कि दुनिया दैवयोग या सनक से संचालित होती है।

कार्य और कारण के बीच सच्चे सम्बन्ध की अवहेलना करना।

यह मानना कि मस्तिष्क ने पदार्थ की रचना की और वही उसे संचालित करता है।

चमत्कार, जादू-मंत्र और सम्मोहन में, सपने और भविष्यवाणी में विश्वास करना।

अलौकिक चीजों में विश्वास करना।

अंधविश्वास की बुनियाद अज्ञान है, इसका ऊपरी ढाँचा श्रद्धा-भक्ति है और इसका गुम्बद झूठी आशा है।

अंधविश्वास अज्ञान की संतान और विपत्ति की जननी है।

रॉबर्ट ग्रीन इंगरसोल

यूरोप : स्वर्ग में सड़ांध

वैश्विक मंदी और अपराध

वैश्विक मन्दी आज पूरी दुनिया में चौतरफा संकट को जन्म दे रही है। औरतों और बच्चों के प्रति हिंसा बढ़ती जा रही है। इंग्लैण्ड में चाकू के जोर पर लूटपाट की घटनाओं में इन दिनों तेजी से वृद्धि हुई है जिनको रोकने में प्रशासन पूरी तरह नाकाम रहा है। सरकार ने अपराध रोकने के लिये 96 करोड़ पौण्ड का अलग से जो पैकेज मंजूर किया था वह भी बेकार साबित हुआ। अकेले इंग्लैण्ड में एक चौथाई जनता इन बढ़ते अपराधों से पीड़ित है जबकि पुलिस अधिकारी, नेता और मीडिया के लोग बड़े पैमाने पर आपराधिक घटनाओं के आँकड़ों पर पर्दा डाल रहे हैं। अपराध की बढ़ती घटनाओं के प्रति लोगों को जागरूक करके और उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार लाकर समस्या का समाधान करने के बजाय सरकार अपराध के खिलाफ कठोर कानून बनाकर इस पर काबू पाने के हवाई मंसूबे बना रही है। समस्या की तह में गये बिना और उन्हें पैदा करने वाले कारणों को दूर किये बगैर केवल कुछ अपराधियों को सजा दे देने से ही क्या समस्या हल हो जायेगी?

कम्पनी के ऊँचे अधिकारियों की जालसाजी में कई गुना की बढ़ोत्तरी हुई है। इनके आगे लूट-पाट की ये छुट-पुट घटनाएँ तो कुछ भी नहीं हैं। मन्दी में डूबती कम्पनियाँ खुद को बचाने के लिए गैर कानूनी तौर-तरीकों का इस्तेमाल कर रही हैं। मन्दी के दौरान इटली की विनिर्माण कम्पनी 'पेरैगा' ने 'नाइट' जैसे

शक्तिशाली माफिया संगठन के सहयोग से खुद को उबारने की कोशिश की, लेकिन कम्पनी फिर भी डूब गयी और उस पर आज भी मुकदमे चल रहे हैं।

खराब निवेश, पूँजी की कमी और डूबते कर्ज का सामना करने वाले बैंक जब लोगों पर आर्थिक बोझ बढ़ाने के बावजूद अपना संकट हल नहीं कर पाये तो अब वे नशीले पदार्थों के व्यापार में निवेश कर रहे हैं। यह गौरतलब है कि एक कोकीन के व्यापार में रुपये के निवेश पर 50 रुपये का मुनाफा मिलता है। यही लुभावना मुनाफा इन परजीवी जोंको को आकर्षित कर रहा है। संयुक्त राज्य संघ के अनुसार इन कम्पनियों ने नशीले पदार्थों और आपराधिक कार्यवाहियों में सैंकड़ों अरब डॉलर का निवेश किया है। मंदी की इस घड़ी में यह भारी निवेश माना जा रहा है। यह तथ्य न केवल पूँजीवाद की आपराधिक प्रवृत्ति को दिखाता है, बल्कि यह भी की अब शायद मन्दी को दूर करने का वैश्विक पूँजी के पास नशीले पदार्थों की तस्करी जैसी आपराधिक गतिविधियों में लिप्त होने से बेहतर रास्ता नहीं है। लोगों को नशेड़ी, जुआरी और लुटेरा बनाकर ही पूँजीवाद खुद को जिन्दा रख सकता है। ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था जितने दिन कायम रहेगी, इस धरती पर नरक का उतना ही विस्तार करती जायेगी। क्या इसका अन्त जरूरी नहीं। □

लघु कथा :

सत्य नारायण भगवान की कथा के बाद जब भक्तों के बीच प्रसाद बाँटने की बारी आयी तो कथा वाचक के चेले ने उनसे पूछा, “महाराज प्रसाद कैसे बाँटू? मनुष्य की तरह या भगवान की तरह?”

कथावाचक ने किंचित क्रोधित होते हुए कहा, “मूर्ख, यह भी कोई पूछने की बात है? अरे भगवान की तरह बाँट।

चेले ने प्रसाद का थाल उठाया और मुट्ठी भर-भर के भक्तों की ओर फेंकने लगा। भगदड़ मच गयी। किसी को ढेर सारा प्रसाद मिला तो किसी के पल्ले दो-चार दाने ही पड़े, और

ज्यादातर को कुछ नहीं मिल पाया। यह देख कर कथा वाचक पंडित जी चेले पर चिल्ला पड़े, “यह क्यों कर रहा है मूर्ख। प्रसाद बाँट रहा है या लुटा रहा है? तेरे कारण न जाने कितनों को कुछ भी नहीं मिल पायेगा?”

चेले ने दोनों हाथ जोड़कर विनम्रता पूर्वक उत्तर दिया, “महाराज, आप ही ने तो कहा था कि भगवान की तरह बाँट प्रसाद। मैंने तो वही किया है जो भगवान करते हैं....किसी को ढेर सारा दे देते हैं और बहुतों को कुछ नहीं देते...”

कथा वाचक के पास कोई उत्तर नहीं था। □

पुस्तक समीक्षा

आयरन हील : पतनशील अमरीकी समाज का आख्यान

-सतीश

जैक लन्दन के उपन्यास आयरन हील को प्रकाशित हुए एक सदी बीत गयी। तब से आज तक यह कालजयी रचना लगभग पाँच पीढ़ियों को प्रेरणा देती रही। वाशिंगटन डीसी में नाजी शासन की धमक के बारे में रोमांचकारी पुस्तक *इट कान्ट हैपेन हियर (1935)* के चर्चित लेखक *सिंक्लेयर लेविस* सहित दुनिया के जाने माने लेखक भी *आयरन हील* से काफी प्रभावित हुए थे। अपनी विषय-वस्तु, कथानक, परिवेश और पात्रों के चरित्र-चित्रण को देखते हुए *आयरन हील* उपन्यास आज पहले से भी कहीं ज्यादा सच्चा लगता है। इसे अमरीकी समाज को तानाशाही के खतरे से आगाह करने वाला पहला अमरीकी उपन्यास माना जाता है।

आयरन हील की कहानी अमरीकी समाज के दो छोरों पर स्थित दो वर्गों के बीच जारी संघर्ष से जुड़ी है। एक तरफ वह विशाल आबादी है जो हाइतोड मेहनत के बावजूद मूलभूत सुविधाओं से भी वंचित है और दूसरी तरफ मुट्टीभर वे लोग हैं जिन्होंने सभी संस्थानों पर कब्जा जमा लिया है और मेहनतकशों के शोषण से हासिल किये गये मुनाफे पर गुलछर्चे उड़ते हैं। आज सौ साल बाद भी वह लड़ाई जारी है जिसे अमरीका के 'वॉल स्ट्रीट पर कब्जा करो' आन्दोलन ने एक प्रतिशत बनाम निन्धानबे प्रतिशत के बीच की लड़ाई कहा है।

इस उपन्यास में जैक लन्दन ने दिखाया है कि धनिक तंत्र अपने स्वार्थों की खातिर कैसे-कैसे षडयंत्र रचता है, तथा समाचार माध्यमों और सूचना तंत्र को किस तरह अपने कब्जे में कर लेता है। वह स्वतंत्रता तथा न्याय की बात करने वालों का दमन और उत्पीडन करता है, लोगों से संगठित होने और बोलने की आजादी छीन लेता है तथा अमरीकी समाज और पूरी दुनिया पर अपने वर्चस्व के लिए गुप्त पुलिस और पेशेवर सेना बनाता है। *आयरन हील* का नायक अर्नेस्ट इस जगह धनिक तंत्र का पर्दाफाश करते हुए कहता है कि "आज धनिक तंत्र सर्वशक्तिमान है। आज उसके कब्जे में है सीनेट, कांग्रेस, अदालतें और राज्यों की विधायिकायें, इसलिए वे अपने अनुसार कानून बनवाते हैं। यही नहीं, कानून के पीछे उसे लागू करने वाली शक्ति होनी चाहिए। उसके लिए उनके पास हैं पुलिस, फौज, नौसेना और अंत में मिलीशिया जिसका मतलब है हम और आप।"

अर्नेस्ट का यह कथन आज पूरी दुनिया के धनिकतंत्र के लिये एकदम सटीक है। अमेरिका हो या भारत, इस धनिकतंत्र की कारस्तानियाँ किसी से छुपी नहीं हैं। इस धनिकतंत्र में शामिल हैं। देशी-विदेशी पूँजीपति, जो मुनाफे की अपनी हवस में प्राकृतिक संसाधनों को लूट रहे हैं। वे खनिज बहुल इलाकों में सदियों से बसे लोगों को उजाड़कर उन्हें बेघर करते हैं और दर-दर कि ठोकर खाने को मजबूर करते हैं। अगर वे लोग प्रतिरोध करते हैं तो पूरी राज मशीनरी पुलिस, अर्धसैनिक बल, न्यायालय पर अपने नियंत्रण के बूते तरह-तह के हथकंडे अपना कर वे उस प्रतिरोध का दमन करते हैं। आवाज उठाने वाली आम जनता को आतंकवादी कहकर उनका नरसंहार किय जाता है या उन्हें जेलों में डाल दिया जाता है।

धनिकतंत्र किस तरह से किसी प्रगतिशील विचार या व्यक्ति विशेष का दमन करता है। इसकी झलक इस उपन्यास की नायिका एविस के पिता के जीवन के माध्यम से दर्शाया गया है जो एक विज्ञानिक हैं और समाज पर पूँजीपति वर्ग के वर्चस्व को सिद्ध करने के लिये एक किताब लिखते हैं। धनिकतंत्र इस किताब को लोगों तक पहुँचने से रोकने के लिये कुचक्र रचता है। मुख्यधारा के प्रकाशक इसे छापने से इन्कार कर देते हैं। एक प्रकाशक इसे छापने कि कोशिश भी करता है तो उसके खिलाफ साजिश रचकर उसे बर्बाद कर दिया जाता है। उस वैज्ञानिक लेखक को अपने पालतू मीडिया द्वारा बदनाम किया जाता है। इसी तरह एक अन्य चरित्र एक विशप है जो धनिकतंत्र की असलियत को जानने के बाद जब उसके खिलाफ आवाज उठाने की कोशिश करता है और उसे पागलखाने भेज दिया जाता है।

आयरन हील की रचना उस दौर में हुई थी जब मुक्त प्रतियोगिता वाले पूँजीवाद का दौर समाप्त हो चुका था और एकाधिकारी पूँजीवाद (साम्राज्यवाद) का दौर शुरू हो चुका था। 'मशीन भंजक' अध्याय में लेखक ने बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखाया है कि एकाधिकारी कार्टेलों द्वारा छोटे-छोटे व्यक्तिगत पूँजीपति किस तरह तबाह किये जा रहे हैं। किस तरह बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को निगलती जा रही है। व्यवसायी जब एक सभा में अपने अस्तित्व के खतरे को भाँपकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ट्रस्टों का विनाश ही उनके विश्वास को बचाए

रख सकता है, तो उपन्यास का नायक अर्नेस्टो उन्हें इतिहास की गति समझाता है और उनके ऐतिहासिक कार्यभार की याद दिलाता है। वह कहता है

“मैं बताता हूँ दूसरा रास्ता। हमें उन्हें नियंत्रित करना चाहिए। हमें उनकी क्षमता तथा सस्ती उत्पादकता का लाभ उठाना चाहिए। हमें उन्हें अपने हक में चलाना चाहिए। महानुभाव परविकसित किसी भी संयोजन से बेहतर है आर्थिक-सामाजिक संयोजन। यह विकास के क्रम में है। हम संयोजन का मुकाबला बेहतर संयोजन से करेंगे। यह विजय का पक्ष है। हम समाजवादियों की ओर आ जायें और विजय के पक्ष में खड़े हों।”

अर्नेस्ट की यह बात टुटपुंजिया पूँजीपतियों के पल्ले नहीं पड़ती है। इसका कारण निजी सम्पत्ति के प्रति उस वर्ग का मोह होता है। यूरोप और अमरीका के इतिहास ने यह साबित कर दिया है कि मुक्त प्रतियोगिता के युग वाले पूँजीवाद से एकाधिकारी पूँजीवाद के संक्रमण के दौरान ये छोटे पूँजीपति स्वाभाविक रूप से नष्ट हो जाते हैं। यही बात आज भारत के छोटे पूँजीपति की समझ में नहीं आती और वे दिन-पतिदिन ताबाह होते जा रहे हैं। यह निजी सम्पत्ति का मोह ही है जो उन्हें सबसे क्रान्तिकारी वर्ग, मजदूर वर्ग के साथ मिलकर बेहतर भविष्य के लिये लड़ने से रोकता है। इसी कारण आज भारत का छोटा पूँजीपति अपनी खस्ता हालत के बावजूद व्यवस्था की हिमायत करता है। उसे मजदूरों और किसानों की बदहाली नजर नहीं आती, जबकि इतिहास यह बताता है कि इनकी भी परिणति अमरीका और यूरोप के छोटे पूँजीपतियों जैसी ही होनी है, जैसा कि *आयरन हील* में दर्शाया गया है।

धनिकतंत्र की पूरी व्यवस्था का साफ-साफ खुलासा तब होता है जब नायिका एविस, अर्नेस्ट द्वारा चुनौती दिये जाने पर एक मजदूर जैक्सन (जिसका एक हाथ फैक्ट्री दुर्घटना में कट गया होता है) के मामले की खोजबीन करने जाती है। वहाँ जाने पर एक-एक कर सच्चाई उसके सामने आती है कि किस तरह पूरी व्यवस्था पर धनिकतंत्र ने अपना कब्जा जमा लिया है। इसके बाद नायिका जैक्सन की दुर्दशा पर एक लेख लिखकर कई अखबारों में भेजती है। प्रकाशक उसके लेख को छापने से इन्कार कर देते हैं। वे उसे बताते हैं कि ऐसा सम्पादकीय नीति के कारण कर रहे हैं। आगे उसे पता चलता है कि इन अखबारों के मालिकों का बड़े पूँजी घरानों से पुराना रिश्ता है। ये सौ साल पहले की बातें हैं। आज हालत इससे भी बुरी है। आज मीडिया पर एकाधिकारी पूँजीपतियों (निगमों) का प्रभुत्व कायम हो गया है। धनिकतंत्र और मीडिया के इस

नापाक रिश्ते का अमरीकी बुद्धिजीवी नॉम चोमस्की ने “मीडिया कंट्रोल” और “मेन्युफेक्चरिंग कन्सेंट” में बड़े ही अच्छे तरीके से खुलासा किया है।

अर्नेस्ट एक भविष्यवाणी करता है कि “...एक दिन ऐसा आयेगा जब ट्रस्टों का जारी संयोजन व्यवस्थापिकाओं को नियंत्रित करेगा जब ट्रस्टों का संयोजन स्वयं सरकार बन जायेगा।” आज उन ट्रस्टों का रूप बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने ले लिया है। इन्ही बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की मदद से दुनिया के देशों में सरकारें बनती-बिगड़ती हैं। ये सरकारें इन्हीं निगमों की स्वार्थ पूर्ति करने वाले कानून बनाती हैं। *जोसेफ स्टिगलित्ज* और *पॉल क्रुगमॉन* जैसे नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्रियों और कई जाने-माने बुद्धिजीवियों ने पूरी दुनिया पर धनिकतंत्र के वर्चस्व की पुष्टि की है और अपनी रचनाओं में यह दिखाया है कि यह तंत्र केवल मुनाफा कमाने की लालसा से संचालित होता है तथा दुनिया के तमाम संकट आर्थिक संकट से लेकर जलवायु संकट और पृथ्वी के विनाश तक के लिये यही गुनाहगार हैं।

आयरन हील के पात्रों खासतौर पर नायक अर्नेस्ट और नायिका एविस के चरित्र से नौजवानों को काफी सीख मिलती है। मानवता की बेहतरी और न्याय-समता में भरोसा रखने वालों के लिये ये आदर्श चरित्र हैं, जिनके विचार और जीवन संघर्ष सहज ही अपनी ओर खींचते हैं। नायक अर्नेस्ट एवरहार्ड में मजदूर वर्ग के आदर्श नायक के सभी गुण मौजूद हैं। वह वाकपटु है, हाजिर जवाब है, अर्थशास्त्र, विज्ञान और दर्शन का जानकार है। उसके विचार बिलकुल स्पष्ट हैं। वह अपने वर्ग के प्रति पक्षधर है और अपने लक्ष्य के लिये संकल्पबद्ध।

अर्नेस्ट के पास तथ्यों तथा सूचनाओं का भण्डार है। एक बहस के दौरान उस पर कोई कटाक्ष करता है- “तुम तथ्यों के पुजारी लगते हो।” लेकिन ऐसी बात नहीं। तथ्य उसके लिये सत्य को स्थापित करने का साधन हैं और उसमें तथ्यों को सही ढंग से प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता है। अपने व्यावहारिक अनुभव और अनुशासित दिमाग की बदौलत वह जटिल से जटिल बातों को भी सरल भाषा में अभिव्यक्त करने में समर्थ है। इसका एक अनोखा उदाहरण ‘एक सपने का गणित’ अध्याय में मिलता है, जिसमें अर्नेस्ट छोटे व्यापारियों को बहुत ही सरल और रोचक ढंग से ‘अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत’ समझा देता है। अपने इन्हीं गुणों के कारण वह लोगों को अपने पक्ष में लाने, रूपांतरित करने में माहिर है। वह एविस, बिशप और एविस के पिता की सोच बदलने में अहम भूमिका निभाता है और उन्हें अपने पक्ष में खड़ा कर लेता है।

नायिका एविस एवरहार्ड शुरुआत में मजदूर वर्ग से

नफरत करती है और अपने वर्ग के बारे में बहुत से भ्रम पाले रहती है। उसे अपने और अपनी सोच पर पूरा भरोसा होता है। एक बार अर्नेस्टो उसे उसके वर्ग को खरी खोटी सुनाता है “जो गाऊन तुमने पहन रखा है उस पर खून का धब्बा है, जो खाना तुम खाती हो उसमें खून मिला है ...बच्चों और जवानों का खून आपकी छत से टपक रहा है। मैं आँखें बंद कर लूँ तो उसे टपकता सुन सकता हूँ अपने चारों ओर। टप टप टप।” इस बात से एविस बहुत आहत होती है लेकिन अर्नेस्ट द्वारा प्रेरित किये जाने पर अपने और अपने वर्ग पर लगाये गये इन आरोपों की जाँच-पड़ताल करने निकल पड़ती है। इस प्रक्रिया में एविस का सामना समाज की निर्मम सच्चाइयों से होता है और इस दौरान वह बदलती चली जाती है। आखिरकार प्रत्यक्ष अनुभव से गुजरने के बाद वह मजदूर वर्ग तथा बदलाव के पक्ष में खड़ी हो जाती है इतना ही नहीं जब परिस्थितियाँ उसे भूमिगत होने पर मजबूर करती हैं तो वह हाव-भाव से भी खुद को इतना बदल लेती है कि खुद उसका पति अर्नेस्ट भी उसको पहचान नहीं पाता।

आयरन हील के पात्रों का विकास बहुत अच्छे ढंग से दर्शाया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि अपने तथा अपने साथियों के व्यक्तित्व को बदलने के लिए सचेत रूप से संघर्ष किये बिना सामाजिक उत्थान के किसी भी लक्ष्य को पूरा करना मुश्किल है।

आयरन हील अपने प्रकाशन के समय लन्दन की अन्य कृतियों *द काल ऑफ द वाईल्ड* और *व्हाईट फ्रैंग* जितनी प्रसिद्धि नहीं पा सकी। लेकिन 1920 के बाद जब यूरोप पर फासीवाद का खतरा मंडराने लगा तब यह किताब काफी चर्चित हुई और पढ़ी गयी। कई जगह इसे प्रतिबंधित भी किया गया। वियतनाम युद्ध के दौरान अमरीका में इस उपन्यास की माँग बहुत बढ़ गयी। उस दौर में वियतनाम और अमरीकी जनता के लिये यह किताब साम्राज्यवादी दुनिया की बुराईयों को समझने की कुंजी मानी जाती थी।

जैक लंडन की *आयरन हील* की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि इसकी बहुत-सी अभिव्यक्तियाँ सही साबित हुई हैं। लेखक का यह पूर्वानुमान काफी हद तक सही साबित हुआ कि अपने संकट के दौर में पूँजीवाद कितनी क्रूरतम रणनीति अपना सकता है और कितना निर्मम हो सकता है। किताब के प्रकाशन के पाँच महीने बाद ही अमरीका में एक राष्ट्रीय गुप्त पुलिस की स्थापना हुई जिसे ब्यूरो ऑफ इन्वेस्टीगेशन कहते थे। जैक लन्दन ने उपन्यास में इसकी ओर इशारा किया था। आज इस कुख्यात संस्था को एफबीआई के नाम से जाना जाता है। इसी तरह उपन्यास में जिस फासीवाद की कल्पना जैक

लन्दन ने की थी वह बेनिटो मुसोलिनी ने स्थापित की। लन्दन ने फासीवाद के बारे में कहा था- “यह वह रूप है जिसे पूँजीवादी राज्य तब अपनाता है जब धनिक अभिजन यह महसूस करने लगता है कि मजदूर क्रांति से उनकी आर्थिक-राजनीतिक सत्ता को खतरा है। लंडन ने *आयरन हील* के बाद कोई बड़ा राजनितिक उपन्यास नहीं लिखा। लेकिन 1915 में प्रकाशित उनके उपन्यास *द स्कारलेट प्लेग* में उन्होंने एड्स और एचआईवी से मिलती जुलती महामारियों की भी पूर्वकल्पना की थी जो सही साबित हुई। इसी कारण लंडन को किसी ने “एंटीना ऑफ द रेस” कहा है जो अतिशयोक्ति नहीं है।

आज जब समाज की उन्नति के लिये लड़ने वाली प्रगतिशील ताकतें सामाजिक रूप से कमजोर अवस्था में हैं तो उपन्यास के नायक अर्नेस्ट द्वारा सभी मेहनतकशों का यह आह्वान उम्मीद जगाता है कि “सम्पदा से भी बड़ी एक शक्ति जो इसलिए ज्यादा बड़ी है कि उसे छीना नहीं जा सकता। हमारी शक्ति मेहनतकश की शक्ति हमारी मांसपेशियों में है, हमारे हाथ में है, जो वोट डालते हैं, हमारी उँगलियों में है, जो बन्दूक का घोड़ा दबा सकती हैं। यह शक्ति हमसे छीनी नहीं जा सकती है। यह आदिम शक्ति है। यह जीवन की नैसर्गिक शक्ति है। यह धन की शक्ति से बड़ी शक्ति है और इस धन को छीना नहीं जा सकता है।”

इसमें कोई शक नहीं है कि आज पूँजीवाद का चरित्र व कार्यप्रणाली *आयरन हील* के प्रकाशन के बाद के सौ बरसों में काफी बदल गया है। पर आज भी *आयरन हील* अपने पाठकों को पूँजीवादी व्यवस्था को समझने की जो सूक्ष्म और स्पष्ट दृष्टि देता है वह बेमिसाल है। जो आज की विश्व व्यवस्था को समझने में रुचि रखने वाला कोई भी व्यक्ति और एक बेहतर दुनिया का सपना देखने वालों के लिये *आयरन हील* एक अच्छी शुरुआत हो सकती है।

लाल बहादुर वर्मा का अनुवाद प्रवाहमय भाषा के चलते सहजग्राह्य और पठनीय बन पड़ा है। प्रकाशक भी बधाई के पात्र हैं जिन्होंने बहुत ही कम कीमत पर सुरुचि पूर्ण और सुघड़ कलेवर में इसे प्रस्तुत किया है।

पुस्तक : आयरन हील

लेखक : जैक लंडन

अनुवाद : लाल बहादुर वर्मा

प्रकाशन : साहित्य उपक्रम, करनाल (हरियाणा)

मूल्य : 55 रुपये

पृष्ठ : 168

□

पुस्तक समीक्षा

जीवन, संघर्ष और सपने का चितेरा : गिरीश तिवाड़ी 'गिर्दा'

-महेश चन्द पुनेठा

गिर्दा के जीते-जी उनकी कविताओं पर लिखने की मेरी इच्छा अधूरी ही रह गयी। उनकी कविताएँ कहीं संकलित होतीं तो यह काम शायद पहले ही हो जाता। इधर *पहाड़* संस्था ने गिर्दा की समग्र रचनाओं को दो जिल्दों में प्रकाशित कर यह स्तुत्य कार्य किया है। *जैता एक दिन तो आलो* गिरीश तिवाड़ी 'गिर्दा' की इधर-उधर बिखरी हिंदी-कुमाउँनी कविताओं का संग्रह है। इस संग्रह में उनकी अब तक की उपलब्ध 1 प्रकाशित-अप्रकाशित कविताओं को वरिष्ठ कवि मंगलेश डबराल की सशक्त भूमिका के साथ संकलित किया गया है।

जनकवि गिर्दा की कविताओं को पढ़ते हुए कभी कबीर, कभी नागार्जुन, कभी गोरख, कभी अदम गोंडवी तो कभी फैज याद हो आते हैं। इन सभी कवियों की तरह उनकी कविताओं में भी साधारण लोगों की बातें हैं। उनकी समस्याएँ, विसंगति-विडंबनाएँ हैं। उन पर करारी चोट है। उन्हें देखने, समझने, सोचने और बदलने की बातें हैं। 'विश्वास के साथ तर्क है।' अपने समय के सच का बयान है। आमजन के संघर्ष और सपने हैं। झिलमिलाती हुई उम्मीदें हैं। आज के माहौल को बदलने की अपील है। इस बदलाव का जज्बा पैदा करने की ताकत है। प्रतिरोध का मूल्य अंतःसूत्र की तरह गुँथा हुआ है। 'हम तो लड़ते आये हैं भाई! लड़ते रहेंगे', का दृढ़ संकल्प निहित है जो संघर्ष की नयी प्रेरणा देता है। उनके कविता रूपी झोले में हड़ि, शिबौ-शिब, बहुत सुंदर, अच्छा ऐसा, ठीक हुआ, खबर-बात, माटी और वह सब कुछ है जिसे वह अपने आस-पास देखते-सुनते रहे। समसामयिक घटनाओं से लेकर दर्शन की बातों तक।

उनकी कविता उनके कंधे पर हर समय रहने वाले उस झोले की तरह है जिसमें राजुला-मालूशाही की लोकगाथा, जागर, मुद्राराक्षस, अंधरे नगरी, नगाड़े खामोश हैं, से लेकर गौर्दा, कार्देनाल, फैज, ब्रेख्त, हिकमत जैसा सबकुछ पड़ा रहता था। कभी किसी लोकगीत-जनगीत के सुर-ताल सम्बन्धी कुछ इशारे और हुड़का, तो कभी कभी पर्चा पड़ा रहता था। इन सभी का समन्वित रूप ही तो है गिर्दा की कविता। इन कविताओं में जागर, होली, छपेली, झोड़ा-चाँचरी जैसे लोकगीतों की धुन और लय तथा ब्रेख्त-नेरुदा-हिकमत जैसी क्रांतिकारी वैचारिकता के दर्शन होते हैं। उनकी कविता कहने की तड़प को बढ़ाती है। उसमें ऐसा भी बहुत कुछ है जो बिना कहे भी जाहिर हो जाता है। गिर्दा कबीर की तरह आँख देखी पर विश्वास करते हैं और उसे ही अपनी कविताओं में स्वर देते हैं।

गिर्दा ने अपनी कविता के लिये जो कार्यभार चुना वह इस तरह है 'सुवा तुम्हारे मेरे किस्से बहुत सुन चुके संत, मुल्क इलाके

की कुछ बातें आज करो प्रिय कंत।' इसलिए देश-दुनिया में व्याप्त गरीबी, भूख, बेरोजगारी, अन्याय-अत्याचार, भ्रष्टाचार, जल-जंगल-जमीन की लूट, बदहाली, अवसरवादी राजनीति आदि कुछ भी उनकी कविताओं से बाहर नहीं है। वे वोट के खिलाड़ियों की सभी करामातों को जानते हैं, उनकी नब्ज पकड़ते हैं और बताते हैं

हाँकते तो दिल्ली की हैं,

संकट के समय रसोई के कोने में दुबकते हैं,

दुम दबाकर भागने को अली-गली ढूँढते हैं।

वो मूर्तें जिनका चेहरा कभी किसी सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों में, जन संघर्षों में दूर-दूर तक नजर नहीं आता बैनरों में शोभायमान होती हैं। सत्ता का मद उन पर ऐसा चढ़ता है कि वे फटेहाल जनता के सारे दुःख-दर्द भूल जाते हैं। सत्ता पाने के बाद उनके गालों की रंगत प्रतिदिन निखरती जाती है। सफेद लिबासों के भीतर छुपी उनकी कालिमा कवि से नहीं छुपती है। वह सत्ताधारियों के हर छल-छद्म को पकड़ लेता है। उसे पता है इस वक्त देश में 'जनता के खिलाफ जनता' पेश की जा रही है। जाति, लिंग, धर्म, क्षेत्र, भाषा के नाम पर उसे आपस में लड़ाया जा रहा है

लगातार ऐसा और इस तरह

झूठ बोल रहे हैं वो

कि समूचा देश

अवाक् मुँह बाए

गुँगा होता जा रहा है।

इस तरह उनकी कविता शासक वर्ग का चेहरा दिखाकर जन विरोधी राजनीति का पर्दाफाश करती है। उन्हें 'सियासी उलटबाँसी' की गहरी पहचान है। इस विडंबना से वाकिफ हैं- जुर्म करे है न्याय-निवारण, न्याय चढ़े है फाँसी, जो कमाए सो रहे फकीरा, बैठे ठाले भरें जखीरा। वे आदमी की बदहाली-गरीबी के लिए 'सुविधा और व्यवस्था के नाम पर' चुपचाप लाये गये शातिर मुनाफे को जिम्मेदार मानते हैं। गिर्दा उस आदमी को बहुत अच्छी तरह पहचानते हैं जो और कुछ नहीं, बस आदमी-आदमी के बीच मुनाफा धर रहे हैं।

जनकवि गिर्दा को दो फाटों में बँटी दुनिया साफ-साफ दिखाई देती है। उनकी दृष्टि में कोई जाला नहीं है। वर्चस्वशाली वर्ग के खेल और उसके द्वारा बिछायी बिसात को समझने में वे कोई गलती नहीं करते हैं। वे खुले शब्दों में कहते हैं

एक तरफ बर्बाद बस्तियाँ, एक तरफ हो तुमे।

सारा पानी चूस रहे हो

नदी-समंदर लूट रहे हो
 एक तरफ हैं सूखी नदियाँ
 एक तरफ हो तुम!
 एक तरफ है प्यासी दुनियाँ
 एक तरफ हो तुम।

अभिजात्य वर्ग अपनी खूबसूरत दुनिया को बनाये-बचाये रखने के लिये किस-किस तरह की चालाकियाँ करता, गिर्दा कुछ ऐसे रेखांकित करते हैं

काँच के जारों में बंद/रंगीन मछलियों से
 कुछ खास जगहों को सजाये रखने के लिये
 तमाम तालाबों की मछलियाँ सड़ाई जाती हैं।
 शहरों को बसाये रखने के लिये गाँवों को उजाड़ा जाता है।
 शहरों के बसने से लेकर फलने तक के सच को वे जानते हैं
 चंद लोगों ने/अपनी बेहतरी के लिये
 धीरे-धीरे/बदलना शुरू किया
 खेतों को किलों में/इमारतों में
 बाजारों में/मिलों में
 धरती की हरियाली में
 आदम के बेटों की खुशहाली पर
 यह शुरूआत की/जिसके बाद
 बेकार हो गये मिट्टी से/सोना उपजाने वाले हाथ
 बेदखल कर दी गयी धरती/धरती के बेटों से
 कमोबेश यही दास्ताँ है/हर शहर के बसने की।

यह केवल गाँव से शहर में बदलने की कहानी नहीं है बल्कि शोषणकारी व्यवस्था के स्थापित और फलने-फूलने की प्रक्रिया की भी दास्तान है। यहाँ कवि के गहरे इतिहास बोध के दर्शन हमें होते हैं। वे आदमी को इस पृथ्वी में सबसे खूबसूरत कविता मानते हैं। दुनिया तो सुन्दर है पर 'उससे भी ज्यादा सुन्दर है, उसे जानने वाला आदमी, पहिचानने वाला आदमी।' पर उन्हें अफसोस है यह जो दुनिया को जानने-पहचानने वाला आदमी है, इस दुनिया का सार तत्त्व उसके पास न होकर जो दुनिया को जानते ही नहीं हैं, उनके पास है। उन्होंने

हर पर्वत नीलाम चढ़ाया
 हर मैदान रेहन रख डाला
 पेड़-पेड़ की, तने-तने की
 खाल छीलकर, रक्त निकाला।

इधर उनकी कविता सोचने को प्रेरित करती है
 क्यों इस खूबसूरत दुनियाँ का सारा भोग
 वे कर जाते हैं जो इस दुनियाँ को जानते ही नहीं हैं।

गिर्दा की कविताओं में अपने समय और समाज यथार्थ के चित्रों के साथ-साथ मुक्ति के स्वर भी सुनायी देते हैं। उनकी कविता अपने समय पर हस्तक्षेप को प्रेरित ही नहीं करती बल्कि सावधान

भी करती है और ठीक करने की चुनौती भी देती है। नजरों को समझने का नजरिया देती है। वे सियासी चालों के प्रति जन को सावधान करते हुए कहते हैं

सावधान! वे बड़े चतुर हैं
 वो जो हमें घोड़िया रम पिलाकर
 नाल की मक्खी पर बिठाकर हमारी आँख
 हमीं से निशाना बंधवाते हैं/हमारे ही खिलाफ।
 इतने कमीने हैं वो/ऐसे कसाई हैं
 कि उनकी नजर में/आदमी आदमी से पहले
 देशी है, पहाड़ी है/सिक्ख है, पंजाबी है/हिंदू है, इसाई है।

वे कविता में केवल प्रश्न ही नहीं खड़े करते बल्कि उनका उत्तर भी प्रस्तुत करते हैं। ये विशेषता उन्हें क्रांतिकारी कवियों की पाँत में खड़ा करती है। गिर्दा एक एक्टविस्ट कवि हैं। एक एक्टविस्ट कवि ही इस तरह ललकार सकता है

हम सब मिलकर खुद पर जन पर जोरो-जुल्म न चलने देंगे
 इस जालिम हुक्मामों के कातिल हुक्म न चलने देंगे
 इन सबके चंगुल में फँसकर जन को न मरने देंगे।
 मुक्ति चाहते हो तो आओ जन संघर्ष में कूद पड़ो
 याद रखो बंधन सदियों के अपने आप नहीं टूटेंगे।
 वे शासक वर्ग को चेताने वाले अंदाज में कहते हैं
 जिस दिन डोलेगी ये धरती
 सर से निकलेगी सब मस्ती।

गिर्दा की कविताओं में पूरी चेतना के साथ भोगा हुआ जीवन और दुनिया भर की गहराई आती है। अदम गोंडवी की तरह- 'मानवता का दर्द लिखेंगे/माटी की बू-बास लिखेंगे' उनका भी काव्य-संकल्प रहा। फकीराना अंदाज, घुमक्कड़पन, फक्कड़पन, बेवाकी उनके कवि-व्यक्तित्व की विशेषता रही। संकलन की पहली ही कविता 'मैं पवन हूँ' कवि के पूरे व्यक्तित्व को खोल कर रख देती है। वे जब कहते हैं- मैं मुक्त हूँ/मैं उन्मुक्त हूँ/बंधन रहित हूँ/ मैं पवन हूँ तब उनके आत्मविश्वास का पता चलता है। एक जनकवि में ही इतना आत्मविश्वास हो सकता है जो उसे संघर्षशील जनता से मिलता है। निश्चित रूप से गिर्दा पवन की तरह ही थे, जिनको न जीवन बाँध पाया और न मृत्यु, न यश बाँध पाया न धन, न सत्ता बाँध पायी न दुनियादारी।

जहाँ भी जनता अपने हक-हकूक की लड़ाई के लिए सड़कों में होती वहाँ गिर्दा खड़े मिलते। उनके हुड़के की थाप और गीतों के बोल लोगों में नये जोश का संचार कर देते थे। आज भले वे नहीं रहे पर उनके गीत जनांदोलनों को आज भी ताकत देते हैं। उनके अनेक गीत जनांदोलनों की उपज हैं। उनकी कविताओं का सुघर सुरुप, शोखियाँ, खरामे नाज और बाँकपन जो कुछ भी है वह उन्होंने जन से पाया है। उसी से लेकर उसी को दिया है। उनकी तो केवल धार है। उनके शब्दों में

कोई भी कवि/शाब्दी

कविता रचकर कृपा नहीं करता/समाज पर
समाज की ही कृपा रही है/हमेशा-हमेशा कवि पर।

उनकी जनता से लेने और उसे देने की प्रक्रिया साफ दिखायी
देती है- जन से लिया, मन से मंथन किया, फिर जन को ही लौटा
दिया। उनका जनता की ताकत पर इतना अटूट विश्वास रहा कि
वे जनविरोधी राजनीति के अंत को निश्चित मानते हैं

आखिर कब तक सुरक्षित रख सकेंगे वो?

अपनी जन विरोधी राजनीति

आखिर कब तक, आखिर कब तक

छल सकता है/हम सबको/एक कोई।

उफ! तुम्हारी खुदगर्जी

चलेगी कब तक ये मनमर्जी

बस तब तक/जब तक हम सब

एक नहीं हो जाते।

उनका दृढ़ विश्वास है कि जनता ही वास्तविक मुक्ति का इतिहास
लिखेगी। शोषक के नाखूनों और दाँतों को उखाड़ फेंकेगी। वे मानते हैं
कि जो गलत है उसका खुलकर विरोध करना चाहिए। वे जनता से अपनी
ताकत को पहचानने की अपील करते हुए कहते हैं

दोस्तो! कि तुम/लात उठाओ तो सही

तुम्हारी लात जहाँ पड़ेगी/वहाँ धरती काँपेगी

और जहाँ उठेगा हाथ/वहाँ आसमान हिलेगा।

एक जनकवि ही जनता पर इतना यकीन कर सकता है। इसके
लिये गिर्दा जनता से सबसे पहले अपने भीतर मे भय से मुक्ति की
अपील करते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता रही

सोये-सोये/साकार नहीं होता कोई सपना

बैठे-बैठे नहीं होता/परिवर्तन।

वे सच्चे और ईमानदार लोगों का आह्वान करते हैं

बस देर-अबेर जो भी है

ईमानदारों को इकट्ठा हो जाना चाहिए।

अंतिम सफलता के लिये/वास्तविक स्वतंत्रता के लिये

अब तो/तुम्हें-हमें संगठित हो ही जाना चाहिए।...

क्योंकि-

...अकेली लकड़ी/या तो बुझ जाती है

या राख हो जाती है

सुलग-सुलग कर/आँच नहीं बन पाती।

केवल कुछ लोगों की इच्छा से ही/क्रांति नहीं होती है

केवल कुछ निष्काम त्यागियों से ही/शांति नहीं होती है।

टुकड़े-टुकड़ों में कट-बँटकर क्रांति सम्भव नहीं है।

वे बदलाव की दिशा में संघर्षरत शक्तियों की आपसी फूट
से दुःखी रहते थे। किसी एक खोह में सिमटकर रहना उन्हें उचित

प्रतीत नहीं होता था।

आज अखबार झूठी खबरें फैलाकर सत्ता की सेवा करने में
पीछे नहीं हैं। कवि उन्हें सीधे संबोधित कर कहता है

‘आपकी’ अफवाही खबरें सचमुच

मेरे देश के आदमियों की हत्याएँ करती रहीं

और आपके शब्द/मेरे देश के उन ईमानदार आदमियों को
बेईमान-हिंसक/असभ्य-अराजक

असामाजिक तत्त्व घोषित करते रहे।

गिर्दा सतर्क करते हैं यदि मीडिया का रवैया ऐसा ही रहा तो
उस पर से जनता का विश्वास उठ जायेगा तब ‘आपकी’ और
आदमी की, मुलाकात होगी, सीधे-सीधे मुठभेड़ के रूप में।

गिर्दा क्रांतिकारी चेतना के कवि हैं वे इस बात को समझते
हैं कि जैसे-जैसे छल-छद्म और दमन बढ़ेगा, वैसे-वैसे संघर्ष का बढ़ना
भी तय है। ऐसे में उनकी दृष्टि में कविता की भूमिका भी महत्वपूर्ण
हो जाती है। जब अभिव्यक्त के माध्यमों पर जनता के दुश्मन का
कब्जा हो जाय

तो साथी! ऐन इसी वक्त

आओ/सोचें, समझें, तय करें/और फैसला लें

कि हमें भी अब कविता लिखनी होगी।

और यह कविता कैसी होगी इस पर भी वे साफ हैं

कविता/जो हमें सड़क पर ला सके

कविता/जिसे हम सड़क पर गा सकें।

निश्चित रूप से गिर्दा की कविता में यह ताकत है कि वह
हमें उद्वेलित कर सड़कों में उतार देती है और हमारे कंठों में बस जाती
है। उत्तराखंड के हर छोटे-बड़े आंदोलनों में गूँज उठने वाले उनके
गीतों के बोल इस बात के प्रमाण हैं। उनके लिये कविता ‘कोरे कागज
में करबराये शब्द भर’ नहीं है ‘और न ही घबराये हुए शब्द’ मात्र।
बल्कि कविता के आँखर सामूहिक चेतना का प्रतिफल है किसी का
व्यक्तिगत मामला नहीं। यह जिंदगी की आँखों में लिखी जाती है।
इसलिए वे कहते हैं दम्भ न कर कविताई का तू, कविता तो जन
जन्माता है गर्व न कर कवि होने का। खुद भी उनको इसका कोई
दम्भ या घमंड नहीं रहा। जब भी मिलते थे, एक बड़े भाई या दोस्त
की तरह मिलते थे। कवि और कविता जन के पीछे है। जन है तब
कवि है। उनके भीतर कवि होने का विशिष्टता बोध बिल्कुल भी नहीं
दिखता।

एक जनवादी कवि में सामूहिकता बोध कितना गहरा और
सघन होता है गिर्दा की कविताओं में देखा जा सकता है। ‘मैं’ सर्वनाम
इन कविताओं में नहीं के बराबर आया है। ‘हम’ का ही अधिक उपयोग
हुआ है। इससे पता चलता है कि गिर्दा के लिए व्यक्ति की अपेक्षा
समाज कितना अहम है। वे कविता को भी सामूहिक कर्म के रूप
में ही देखते हैं। वे हमेशा कविता को सामूहिक स्वरों में बाँधने के पक्षध

र रहे। साथ ही कविता को परिवर्तन के औजार के रूप में देखते रहे। जब वे यह कहते हैं कि

'ओ झोले वाले'

*तुम इस दुनिया को बदलना चाहते हो
तो तुम्हें इस झोले में/सिर्फ बारूद ही नहीं
कविता भी रखनी चाहिए/ओ झोले वाले*

तो उनकी कविता में गहरी आस्था परिलक्षित होती है। उसकी ताकत पर कवि के विश्वास का पता चलता है। उनके लिये कविता लिपि की नहीं, न ही भाषा की और न बोली की होती है, कविता तो जीवन का स्पंदन है, जन-जन की भाषा है, जन-जीवन की गाथा है दर्शन है। उसकी इस ताकत को समझते हुए ही वे कहते हैं बड़ा गजब हो जायेगा महाराज, जो यह उनकी हो जायेगी, हम कविता करते रहेंगे, पर कविता खो जायेगी।

देश-दुनिया और सियासी चालों से बेखबर लोगों को गिर्दा 'गनेलों' की संज्ञा देते हैं अर्थात् घोड़े की जो आपस में भिड़ाकर सिर-कान लुकाये खुद को सुरक्षित समझ लेते हैं। वे उन्हें सचेत करते हैं तुम्हारे ये घर-बार, बहनों के ये गुबार, बहुत दिनों तक नहीं चलने वाले हैं। उनका परिवर्तन पर बहुत विश्वास रहा। कल कभी नहीं आता कहने वालों को वे जबाब देते हैं कल आता रहा है, आता रहेगा। वह दिन आयेगा, जरूर आयेगा, कि जब धरती के बेटे उठेंगे, एक साथ उठेंगे, अपने हाथ ऊँचे करके, तमाम व्यक्तिगत मिलों, सड़कों, किलों और अट्टालिकाओं को कर देंगे जन संपत्ति में तब्दील और बहुत से लोगों की बेहतरी के लिये, धरती उगलेगी सोना ही सोना। होगा साथी होगा, कल अपना हमारा, कल होगा, धरती के नभ में, चमकता सितारा कल होगा। इस तरह गिर्दा आशा और उम्मीद के कवि हैं। उनकी कविताओं में हमें निराशा नहीं दिखायी देती है। 'अब कुछ नहीं हो सकता है' का हाहाकार नहीं है उनकी कविताओं में। कठिन से कठिन समय में उम्मीद की किरण झिलमिलाती रहती है इक निराशा, हजारों हैं आशायें यहाँ। सच में, धरती, तुम्हारे हाथों सँवरती आयी, सँवर रही है। यह एक बड़े कवि की खासियत होती है। वह अपने भीतर और बाहर की उदासी-निराशा को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता है। गिर्दा ढाँढस बंधाते हैं

*तुलक नी लगा उदेख/घुनन् मुनइ न टेक
जैता एक दिन तो आलो/दिन यो दुनी में
जै दिन चोर नी फलला/कैकु जोर नी चललू
जै दिन छुटा-बड़ा नी राला/जै दिन त्योर-म्योर नी होलु।*

परिवर्तन को लेकर को उन्हें कोई गलतफहमी नहीं थी इस बात का अहसास था

*तुम्हारी आँखें और पलकें
न जाने कितनी व्यथा-कथाएँ सुना रही हैं
ये सच है/लेकिन पलक झपके नहीं बदलती है*

कितनी पीढ़ियाँ लगती हैं उसे बदलने में

तब जाकर बदलती है तारीख।

वे समय के गर्भ में पल रहे संतति के हाथों में अग्नि और आँखों में उजाला देख लेते हैं। उनका विश्वास देखिये ये उदासी ऊपरी है साथियो इस देश में। वे मानते हैं कि फिलवक्त जैसी उदासी-निराशा और खामोशी दिखाई दे रही है देश में सिर्फ वैसा ही नहीं है। ऐसी भी शक्तियाँ हैं जो इसके खिलाफ संघर्षरत हैं और जो 'आजादी सैंतालीसी' की असलियत को उधाड़ रही हैं। उनको पूरा विश्वास है कि

*मुक्त होकर ही रहेगा/देश अपना क्योंकि अब
हर गुलामी देख ली है साथियो!*

और यह मुक्ति उनके अनुसार सर्वहारा की हूकूमत स्थापित होने पर ही सम्भव है। क्योंकि

ये दुनियाँ टिकी हुई है/तुम-हम जैसों के ही हाथों पे

इसलिए बदल भी सकते हैं/हम ही इसको समझा कीजै।

यहाँ पर 'हम ही' का प्रयोग गहरे अर्थों को छुपाये हुए है, अर्थात् दुनिया बदलेगी तो केवल मानवीय प्रयासों से ही किसी ईश्वरीय शक्ति की कृपा से नहीं। वे इस दुनिया को ही अंतिम सत्य मानते हैं

रागी-वैरागी जो भी बने/पर बनेगा इसी दुनिया में

बात परलोक की ही करे/पर करेगा इसी दुनिया में।

पृथक उत्तराखंड राज्य आंदोलन में गिर्दा की भूमिका उल्लेखनीय रही। उन्होंने अपनी कविता और गीतों के माध्यम से इस आंदोलन को एक वैचारिक दिशा प्रदान की। उनकी कविताओं में जहाँ पहाड़ी राज्य को लेकर स्थानीय जनता की आशा-आकांक्षा और सपने अभिव्यक्ति पाते हैं, वहीं उनके स्वप्न भंग होने की विडंबना भी दिखायी देती है। कैसा होगा कल का उत्तराखंड, कैसे होंगे हमारे नेता, कैसी होगी विकास की नीति और कैसी होगी व्यवस्था, इन सभी मुद्दों पर बात-बहस आमंत्रित करती है उनकी कविता। वे अपनी कविता में पृथक राज्य बनने के बाद उत्तराखंड के हाल बताते हुए कहते हैं- इसलिए तो नहीं लड़ी थी ना यह लड़ाई हमने कि अफसरशाहों-नौकरशाहों की पूँछ पकड़ कर एक-एक कदम चलेंगे हमारे भाग्यविधाता। जो भी पद जैसे भी हाथ लग जाए उसी पर लटक जाएँगे वे। उस वक्त बड़ी शालीन खामोशी के साथ जो दिल्ली में विराजमान थे और तिरछी निगाहों से छुप-छुप कर देख रहे थे उत्तराखंड को वही लोग चलायेंगे। जबकि कवि ने अपनी जनता के साथ एक नये उत्तराखंड का स्वप्न देखा था- जहाँ बहिन फाँसी नहीं खायेगी, भाई डूब नहीं मरेगा। हमारा बचपन झूठे बर्तन मलने के लिये शहरों में नहीं भटकेगा। कोर्ट-कचहरियों, ब्लॉक कार्यालयों में लूट-खसोट नहीं होगी। जहाँ इंसान झूठ के डर से झुर-झुर कर क्षीण नहीं होंगे और झूठ-मक्कार निडर होकर सरेआम दहाड़ेंगे नहीं। जहाँ लीसा-लकड़ी-बजरी चोर, बड़े आदमी नहीं समझे

जायेंगे, सामाजिक मान्यता नहीं पायेंगे। पानी के नल में पानी, बिजली के बल्ब में रोशनी, दुःख बीमारी में दवाई और अस्पताल सब को समान रूप से उपलब्ध होंगे। जाति-पाति, छोटा-बड़ा ये सब अप्रासंगिक हो जायेंगे। लोगों के रहने के लिये घर होंगे, भैंसों के नहाने के लिए 'खाल-पोखर' होंगे। गाय-बछियों के लिये गोचर होंगे और पशु-पक्षियों के लिए जंगल की हरी-भरी डालें होंगी। प्रकारांतर से उनका यह सपना महज किसी एक राज्य तक नहीं है बल्कि सम्पूर्ण समाज का सपना है। उनका पूरा रचना कर्म इसी की अभिव्यक्ति है।

उनकी कविता माटी और मानुष के दर्द से पैदा हुई कविता है। अपने गाँव ज्योली से दूर रहते हुए उसके लिये कवि का दिल कितना तड़पता है इन पंक्तियों में देखा जा सकता है तुम बहुत याद आती हो ज्योली मुझे, जिंदगी की डगर में हरेक शाम पर, मौसमी सीढ़ियों के हर पायदान पर, तुम बहुत ही सताती हो ज्योली मुझे, तुम बहुत याद आती हो ज्योली मुझे। अपने गाँव-अंचल को वे कभी नहीं भूलते हैं। वहाँ की प्रकृति वहाँ के जन उनकी संस्कृति-खान-पान-वेश-भूषा उनको बार-बार याद आती है। वे उसे सात जन्मों तक भी न भूल पाने की बात कहते हैं। ये दूसरी बात है कि पापी पेट की खातिर उन्हें अपना घर-बार और अंचल छोड़ना पड़ा। ये बिडंबना हर पिछड़े अंचल के साथ जुड़ी हुई है। गाँव से दूर होने की यह विवशता और अपने परिजनों से दूर होने की तड़प उनकी कविता में प्रकट होती है

मैं दो रोटी के जुगाड़ में भटक रहा हूँ
सुबह-शाम की सूली पर नित लटक रहा हूँ
उस पर फिकर तुम्हारी जाने कब क्या होगा
बहुत दूर है दाल भात सब्जी का दोना।

अपनी जन्मभूमि के प्रति उनका प्रेम-समर्पण और उससे जुड़े होने का गौरव इन पंक्तियों में परिलक्षित होता है

माँ मेरा यह जन्म धन्य है
जो तेरी इस महान कोख में हुआ
आज तेरे अस्तित्व के इस संघर्ष में
यदि प्राण न्यौछावर कर सकूँ मैं तो समझूँगा
कुछ सार्थक कर पाया, ओ मेरे हिमाल।

गिरदा की कविताओं में प्रकृति का सौंदर्य भरपूर है। प्रकृति स्वयं में एक कविता है। उन्होंने प्रकृति से ही कविताओं की स्वाभाविक बुनावट सीखी। उनके ताने-बाने की बुनावट को समझा। वे स्वयं प्रकृति के बीच रहे और उसे भरपूर जिया फिर कविताओं में व्यक्त किया। उन्हें धूप किरणों के धागों वाली चादर लगती है जो मन को बहुत भाती है। जाड़ों की धूप का एक चित्र उनकी कविता में आता है

धूप सेकने बैठीं दादी
गोदी में पोती मुस्काती
खटिया में पसरे दादा जी

स्वेटर बुनती हैं माताजी
रंग-बिरंगी धारी वाली
जो जाड़ों में गर्मी लाती
धूप की चादर मन को भाती।

एक बिंब देखिये जिसको पढ़ते हुए शमशेर की 'उशा' कविता याद हो आती है

राख से माँज कर/चम्म से चमकायी हुई
उल्टी लटकायी गयी/कढ़ाई की तरह
नीला आसमान/और उस पार
पापड़ के पत्ते में लुढ़कती-दुलकती
ओस की तरह/झिलमिलाते तारे
मुझे अच्छे लगते हैं।

उनकी कुमाउँनी कविताओं में प्रकृति का चित्रण अधिक मिलता है। दूर शिखर कोरों से/मंद-मंद, ठुमक-ठुमक उतरती-सिहरती सुघरमुखी रतनारी सांझ, सर-सर चली हवा फागुनी, लाल हुए यामल घन, सुनहरा हिमाल, नारंगी शिखर, चाँद-तारों का चुंबन लेते पर्वत, खेतों में बिखरी चाँदनी, हँसते गाड़-गधेरे, लहर-लहर लहराती पकी फसल, वन-वन फैले हिसालू, किल्मोड़ी, काफल, बाँज-बुरूँश- काफल के पेड़ों की छाया, आड़ू-खुबानी के खिले फूल, हरे खेतों में पीली सरसों, सावनी सांझ का खुला आकाश, ओस में भीगी, ओस में उतरी धुली धरती-आकाश, खुलती दिशाओं से जन्म लेता प्रभात, बुराँशी बयार, उनकी कविताओं में देखी जा सकती है। इन कविताओं में केवल प्रकृति का सौंदर्य ही नहीं बल्कि जीवन का स्पंदन भी है। उनकी प्रकृति निर्जन प्रकृति नहीं है। गिरदा बच्चों और उनकी गतिविधियों से बहुत लगाव रखते थे। बच्चों पर उनकी बारीक नजर रहती थी। उनके खेलों को गौर से देखते थे। उनकी बहुत सारी कविताओं में हम बच्चों का जिक्र पाते हैं। 'बच्चा, मछली, बाढ़' जिसमें वे बच्चों के खेल 'बोल री मछली कितना पानी' के माध्यम से बच्चों से संवाद स्थापित करते हैं और बताते हैं खास लोगों को बनाये रखने के लिए शेष सारे बच्चों को क्या-क्या और कैसे पढ़ाया जाता है। कविता के अंत में यह कहते हुए कि

ये बात सच है इस देश में मेरे बच्चे!

कि बाढ़ कभी भी स्वाभाविक नहीं होती।

एक बड़े सच की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं। नयी पीढ़ी को आभासी यथार्थ नहीं सारतत्व तक पहुँचाने की कोशिश करते हैं। बच्चों के प्रति उनका स्नेह इन पंक्तियों में समझा जा सकता है

मुझे सबसे अच्छा दृश्य
वही लगता है
जब बच्चे बने होते हैं चित्रकार
और रच रहे होते हैं भविष्य।
चंदा मामा, दूध-कटोरा हर बचपन सुनता है

मतलब कोई नहीं बताता मुन्ना क्यों कर रूठ गया।

बच्चे पर बस्ते का बोझ उन्हें कभी नहीं भाया।

वे इसके सख्त आलोचक रहे। 'यह मत करना', 'वह मत करना' जैसे प्रतिबंधों के खिलाफ रहे। बच्चे की पीड़ा को वे समझते हैं

इत्ती सी जान/चिड़िया सरीखी

रखना है ध्यान/स्केल, पेन्सिल, रबर, बस्ते का

निर्जीव-सा एकरस स्कूली रस्ते का

विलकुल ना भाये/उबकाई आये

देखकर जिसे/फिर भी पहननी है वही ड्रेस

जूते की तरह/वेहरे ने भी दीखना है फ्रेश।

वे एक ऐसे स्कूल का आदर्श प्रस्तुत करते हैं

जहाँ न बस्ता कंधा तोड़े जहाँ न पटरी माथा फोड़े

जहाँ न अक्षर कान उखाड़े जहाँ न भाषा जख्म उघाड़े

जहाँ न हो झूठ का दिखावा जहाँ न सूट-बूट का हौच्चा

जहाँ न कोई दर्द दुखाये।

उनकी बालमन और शिक्षा की इस समझ के बड़े-बड़े शिक्षाविद कायल हो जाते हैं। उनकी इसी गहरी समझ को देखते हुए उत्तराखंड स्कूली शिक्षा की पाठ्य पुस्तक लेखन समूह ने समय-समय पर उनकी राय ली।

गिर्दा ने गीत-गजल और मुक्त छंद में कविता रचकर काव्य-रूप पर अपने अधिकार को साबित किया लेकिन उनके लिए शिल्प कभी महत्वपूर्ण नहीं रहा। लोक भाषा की लय को पकड़ लोक मुहावरे में अपनी बात कहते रहे। कुछ लोगों को उनके शिल्प में कमजोरी लगती है। उन्हें कलात्मकता कम दिखाई देती है, कहीं-कहीं यह बात सही भी हो सकती है, पर उनकी कविताओं का कथ्य और उसका आवेग इतना तीव्र है कि शिल्प की ओर ध्यान ही नहीं जाता है। उनकी कविता का सौन्दर्य शिल्प की अपेक्षा उनके कथ्य में है। उन शब्दों में है जो क्रियाशील आदमी के मुख से निकलकर उनकी कविताओं में बस जाते हैं। वे कविता को नारा बनाना चाहते थे और नारे में कविता का होना जरूरी मानते थे। वाग्वैदग्धता को लेकर उनकी मान्यता स्पष्ट है 'नहीं चल सकती भाषायी बनावट अधिक दिनों? स्वभावतः लिखा गया लेखन ही स्वाभाविक होता है।' इसलिए वे कहते हैं

जो कुछ बोलूँ, साफ सरल सीधा बोलूँ

भले मेरी बातों से दिग्गज जन की

नाक-भौं चढ़े उग्र भर।

जीवन के प्रति उनकी आस्था देखिए

मैं तो करूँ हूँ उसको सजदे

जिस जीवन ने आँखर लिक्खे

जिस जीवन ने

बलि-बलि जाऊँ हूँ मैं उस पर

जिससे बढ़कर भाष्य न भाषा

मेरा नारा/जीवन प्यारा।

उनकी भाषा प्यार, पीर और संघर्षों की उपज है। इस संग्रह की भूमिका लिखते हुए वरिष्ठ कवि मंगलेश डबराल ने बिल्कुल सही लिखा है- 'गिर्दा का ऐतिहासिक काम यह था कि उन्होंने झोड़ा, चांचरी, छपेली और जागर जैसी लोक विधाओं और पारम्परिक नृत्यगीतों को एक ऐसा नया कथ्य दिया, जो समाज को परिवर्तन के लिये प्रेरित करता था। उन्होंने पुरानी और प्रचलित धुनों, यथास्थिति की पोषक रचनाओं को नये अर्थों से आलोकित कर दिया।' वास्तव में गिर्दा का यह काम एकदम मौलिक है। हिंदी कविता में इस तरह के प्रयोग नहीं के बराबर हैं। ऐसा करते हुए उन्होंने लोक विधाओं को नए कथ्य प्रदान करते हुए उनको ताजगी प्रदान की। होली गीतों को भी जागरण गीतों के रूप में बदल दिया।

गिरीश तिवाड़ी 'गिर्दा' ने कभी किसी की परवाह नहीं की। वे हमेशा सत्य की खोज करते रहे। पाठक को सारतत्व तक ले जाना उनका काव्य-प्रयोजन रहा क्योंकि उनका मानना रहा कि 'ऊपर-ऊपर जो दिखायी दे रहा है/उतना भर ही नहीं है सच।' उनकी कविता हमेशा सच के साथ खड़ी रहती है। मनुष्यता के पक्ष में सच को बचाने का संघर्ष उनकी कविताओं में अनवरत चलता रहता है। पीढ़ी दर पीढ़ी पिसती रही मानवता की मुक्ति उनका सपना रहा। गिर्दा अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। उन्होंने जो भी सीखा जीवन की पाठशाला में ही सीखा। वे खुद कहते हैं- कोई पोथी नहीं, कोई पतरा नहीं, जो भी सीखा वो इस जिंदगी से सनम। इस जिंदगी की पाठशाला से सीखने का ही असर रहा कि वे सबसे ऊपर मनुष्यता को रखते हैं। दूसरे आदमी से संबंध स्थापित करने का आधार उनके लिये यह मनुष्यता ही रही 'हम न तन देखते, हम न धन देखते, मापते आदमी, आदमी से सनम।' वे विराट हिमालय की तरह थे जो

विराट होते हुए भी/भूल नहीं सकता

उन छोटे-छोटे हिमालयों को

जिनके दम पर/वह विराट साबित होता है।

उनकी कविता एक दोस्त की तरह पाठक से बतयाती है और उसके हालचाल पूछती है, ढाँढस बँधाती है, उम्मीदें जगाती है, अपने प्यार को समूचे प्यार के साथ प्यार करने का संदेश देती है। प्रेम से लेकर, क्रांति के गीत गाती है।

पुस्तक : जैता एक दिन तो आलो

(हिंदी एवं कुमाउँनी कविताओं का संग्रह)

लेखक : गिरीश तिवाड़ी 'गिर्दा'

प्रकाशक : पहाड़, नैनीताल

मूल्य : दो सौ पचास रुपये □

हिंदी के दुश्मन हिंदी अखबार

-पारिजात

“अल्लाह तुम्हारे बच्चों को उनकी माँ की भाषा से वंचित कर दे,” एक नारी ने दूसरी नारी को कोसा।

“अल्लाह तुम्हारे बच्चों को उससे महरूम करे, जो उन्हें जवान सिखा सकता हो।”

“नहीं, अल्लाह तुम्हारे बच्चों को उससे महरूम करे, जिसे वे अपनी जवान सिखा सकते हों।”

तो ऐसे भयानक होते हैं शाप।

-रसूल हमजातोव, “मेरा दागिस्तान” पुस्तक से।

कल्पना करें कि अगर हम अचानक अपनी मातृभाषा भूल जायें तो क्या होगा? हम पूरी दुनिया से और यहाँ तक कि खुद से भी अजनबी नहीं हो जायेंगे?

पिछले बीस सालों से हिंदी के कई अखबार जनता के स्मृति-पटल से उसकी मातृभाषा पोंछ देने की कारगुजारियों में लिप्त हैं। किसी जमाने में इन्हीं हिंदी अखबारों से जुड़े सम्पादकों और पत्रकारों ने हिंदी को समृद्ध किया था। आज उनके उत्तराधिकारी उनके किये-कराये पर पानी फेर रहे हैं। वे हिंदी की जगह अंग्रेजी को प्रतिष्ठित करने का अभियान छेड़े हुए हैं और हिंदी के दुश्मन की भूमिका निभा रहे हैं। वे बिलावजह अंग्रेजी के शब्दों को हिंदी में घुसाकर हिंदी को हिंगलिश बनाने में लिप्त रहे हैं।

हिंदी के एक प्रतिष्ठित अखबार के एक कोने में ही ईवनिंग, शिफ्ट, केस, कांसटेबुल, कोर्ट, करप्सन, लाइट, इलैक्सन, लिस्ट, जैसे अनेकों शब्द देखने को मिले। इन शब्दों के लिये लोगों की जुबान पर चढ़े हुए हिंदी के बहुप्रचलित शब्दों का अकाल नहीं है। इन अखबारों ने सचेत रूप से ऐसे सैकड़ों शब्दों को हमारी आम बोलचाल की भाषा में घुसा दिया है।

अगर किसी शब्द के लिये हमारी भाषा में प्रचलित शब्द न हो तो कोशिश यही होनी चाहिये कि उसके लिये शब्द बनाकर उसे प्रचलित किया जाय, ताकि हमारे शब्द भंडार में इजाफा हो। अगर वैकल्पिक शब्द तलाशना सम्भव न हो तो मजबूरी में किसी दूसरी भाषा के शब्द का प्रयोग करने में कोई बुराई नहीं। लेकिन अपनी भाषा में प्रचलित समानार्थी शब्द होने पर भी दूसरी भाषा के शब्द का प्रयोग करना अपनी भाषा के प्रति घोर उपेक्षा है।

भाषा के घालमेल का काम सबसे पहले इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने शुरू किया था। इसने धीरे-धीरे अंग्रेजी के शब्दों को हमारी बोलचाल की भाषा में घुसाया। यह एक हवाई हमले की तरह था। तब समाज में इसकी व्यापक पहुँच नहीं थी। लेकिन हिंदी को अंग्रेजी द्वारा प्रतिस्थापित करने की अखबारों की योजना के लिये इसने आधार का काम किया। इसी जमीन पर खड़े होकर अखबार अंग्रेजी के शब्दों की संख्या बढ़ाते चले गये। शब्दों की तो बात ही छोड़िये, वे अंग्रेजी के वाक्यांशों को भी हमारी भाषा में घुसा रहे हैं। उनकी अगली योजना हिंदी को देवनागरी लिपि के बजाय रोमन लिपि में लिखने की है।

अपने इन भाषा विनाशी कुकृत्यों के लिये वे तर्क देते हैं कि इससे हिंदी समृद्ध हो रही है और एक वैश्विक भाषा बनने की ओर बढ़ रही है। उनका कहना है कि हिंदी में इन नये शब्दों के आ जाने से हिंदी की ताकत बढ़ेगी और इसका विस्तार भी होगा। अगर उनके तर्क को थोड़ा बढ़ाकर सोँचे तो जल्द ही वह दिन आयेगा जब हम वाक्य तो हिंदी का बोलेंगे पर उसमें शब्द अंग्रेजी के होंगे। इसका नमूना हम एक रेडियो और टीवी के संचालकों की खिचड़ी बोली के रूप में देख सकते हैं।

भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि शब्द मात्र अक्षरों का समूह नहीं होते। हर शब्द का अपना इतिहास होता है। शब्दों का अपना जीवन क्रम होता है, वे पैदा होते हैं, पुराने पड़ते हैं, मरते हैं और फिर नये-नये शब्द पैदा होते हैं। किसी भी शब्द के सम्पर्क में आते ही हमारे दिमाग में उससे सम्बंधित एक तस्वीर बनती है। शब्द से हमारे दिमाग में बनने वाले इस चित्र पर समय, समाज, भौगोलिक परिस्थिति, संस्कृति जैसी बहुत सी चीजों का असर होता है। किसी भारतीय किसान के दिमाग में ‘सुबह’ कहने से जो चित्र खिंचता है, वह किसी अमरीकी के जीवन में ‘मार्निंग’ सुनकर उभरने वाली छवि से बिलकुल अलग होता है। माँ-बाप सुनकर हमारा दिमाग जैसी प्रतिक्रिया करता है पैरेंट्स सुनकर हमारे दिमाग में वही छवि नहीं बनती।

यह भी महत्वपूर्ण है कि हमारे दिमाग में जो भी विचार आते हैं या हम जो भी चिंतन करते हैं, वह हमारी अपनी मातृभाषा में होता है। हम परायी भाषा में सोच ही नहीं सकते। अगर हमारी भाषा के शब्द ही बदल दिये जायेंगे तो हम न तो

मौलिक चिंतन कर पायेंगे और न ही अपने विचारों की प्रखर अभिव्यक्ति। अपनी भाषा से कटते ही हम अपनी परम्पराओं अपनी संस्कृति और अपने इतिहास से भी कट जायेंगे। हम अपने पूर्वजों की विकास यात्रा और उनके संघर्षों से अजनबी हो जायेंगे। यही कारण है की दुनिया का हर जागरूक समाज जी-जान से अपनी मातृभाषा को बचाने और उसका विकास करने का प्रयास करता है।

सवाल यह है की मातृभाषा हिंदी में छपने वाले अखबार क्यों अपनी ही भाषा को नष्ट करने के लिये योजनाबद्ध तरीके से प्रयासरत हैं? क्यों वे हिंदी को अंग्रेजी शब्दों की बैशाखी थमा रहे हैं, जबकि राष्ट्रीय आन्दोलन और 1947 के बाद के दशकों में भी उन्होंने हिंदी के विकास का काम किया था। कोई भी अखबार या पत्रिका समाज के किसी खास वर्ग का प्रतिनिधि होती है। देश की सत्ता की बागडोर जिस वर्ग के हाथ में होती है जन-संचार के माध्यमों पर भी उसी का कब्जा होता है। विरोधी विचारों को भी वह एक सीमा तक ही स्थान देता है। मुख्यधारा के हमारे अखबार पहले भी देश के शासक, पूँजीपति वर्ग की विचारधारा के वाहक थे और आज भी हैं। हालाँकि उनके मालिकों में अब विदेशी पूँजीपति भी शामिल हो गये हैं। आजादी की लड़ाई में जनता को अपने साथ लेने के लिये वे सुख-दुःख में उसका साथ देते और शासकों तक उसकी आवाज पहुँचाते थे। आजादी के बाद हमारे शासकों ने राष्ट्र के आत्मनिर्भर विकास का रास्ता चुना। अपनी राष्ट्रीय भाषा और संस्कृति का विकास भी इसी का हिस्सा था। हालाँकि शासक वर्ग उस वक्त भी अंग्रेजी की श्रेष्ठता और निर्भरता से मुक्त नहीं थे, फिर भी इस पूरे दौर में अखबारों ने हिंदी के विकास में योगदान किया।

80-90 के दशक में दुनिया में हुए बदलावों को देखते हुए हमारे शासकों को आत्मनिर्भरता के बजाय परनिर्भरता और साम्राज्यवादियों की गुलामी में ज्यादा मुनाफा दिखायी देने लगा। उन्होंने अपने संकीर्ण स्वार्थों के लिये वैश्वीकरण के रूप में आयी नये तरह की गुलामी को स्वीकार कर लिया। साम्राज्यवादियों के लिये देश के दरवाजे खोल दिये गये। देश की सभी नीतियाँ इनकी सहूलियत के अनुसार बदली जाने लगीं। जब देश के शासक वर्ग ने साम्राज्यवादियों की अधीनता स्वीकार कर ली तो अखबारों समेत उसके सभी जनसंचार माध्यम भी साम्राज्यवाद की सेवा में लग गये। उनका चरित्र रातों-रात बदलने लगा।

साम्राज्यवादियों का सपना पूरी दुनिया पर अपना एकछत्र राज कायम करना है। वे चाहते हैं कि पूरी दुनिया की जनता

मुनाफाखोरी और उपभोक्तावाद को ही जीवन का उद्देश्य मान ले। उनकी पतित पूँजीवादि संस्कृति को ही पूरी दुनिया में स्थापित कर दिया जाय। उन्हीं की भाषा पूरी दुनिया में बोली जाये और पूरी दुनिया की जनता अपने देश के स्वाभिमान और आजादी के सपने का परित्याग कर दे। उन्हीं आक्रांताओं की साम्राज्यवादी संस्कृति का प्रचार-प्रसार अब हिंदी के अखबारों का उद्देश्य बन गया है। इसके लिये जरूरी था की सबसे पहले अखबार खुद को हर कीमत पर मुनाफा कमाने वाले उपक्रम में बदलें और देश की जनता के प्रति अपने दायित्वों को त्याग कर अधिक से अधिक विज्ञापन हासिल करने की रणनीति अपनायें। इसी के तहत हिंदी के अखबारों ने हिंदी का विकास करने के बजाय उसकी जड़ें खोदने का बीड़ा उठा लिया। चूँकि हिंदी और सभी देशी भाषाएँ भारत की पहचान का अनिवार्य अंग है, इसलिए वैश्वीकरण के नाम पर साम्राज्यवादी ऐसी किसी भी पहचान को रौंदना जरूरी समझते हैं।

भाषा ही नहीं बल्कि खानपान, पहनावा, जीवनशैली और हर क्षेत्र में बहुलतावाद को रौंदते हुए अपने एकरस और जड़ीभूत मानकों को स्थापित करना उनके लिये जरूरी है। तभी उनके ब्रांडेड कपड़े, खाने-पीने के सामान और हर तरह की उपभोक्ता वस्तुएँ पूरी दुनिया में धड़ल्ले से बिक पायेंगी।

अंग्रेजी के प्रति इस वर्ग का मोह फैशन मात्र नहीं है, बल्कि उनके अस्तित्व से सीधे जुड़ी हुई है। बहुराष्ट्रीय निगमों का पूरा तामझाम, पूरा तानाबाना, अंग्रेजी पर निर्भर है। जाहिर है कि उनके विज्ञापनों पर चलने वाले अखबारों के लिए भी अंग्रेजी को बढ़ावा देना और हिंदी का मानमर्दन करना आज उनके फलने-फूलने की शर्त है।

ज्यादा मुनाफा कमाने के लालच में अपने देश की आजादी को साम्राज्यवादियों के पास गिरवी रख चुके शासक वर्गों के समर्थक अखबार अपनी मातृभाषा के मित्र नहीं हो सकते। आज अपनी मातृभाषा के मित्र उन्हीं वर्गों के पत्र-पत्रिकाएँ हो सकती हैं जो पूरी मानवता की मुक्ति का सपना देखते हैं। अतीत में भी अंग्रेजी से लड़ते हुए अंग्रेजी के खिलाफ हिंदी का पताका लहराया गया था। आज हम उससे भी कठिन परिस्थिति का सामना कर रहे हैं, क्योंकि देश की एक बहुत बड़ी आबादी अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिये विदेशी पूँजी के साथ गलबहियाँ डाले खड़ी है। इसका मुकाबला जनपक्षधर पत्र-पत्रिकाओं और अन्य वैकल्पिक माध्यमों के प्रचार-प्रसार को एक आन्दोलन का रूप देकर ही सम्भव है।

आजमगढ़ में पहली बार हुआ फिल्म फेस्टिवल

आजमगढ़ के नेहरू हॉल में पहला आजमगढ़ फिल्म फेस्टिवल 14 और 15 जुलाई को आयोजित किया गया। जन संस्कृति मंच और आजमगढ़ फिल्म सोसाइटी के संयुक्त तत्वावधान में “प्रतिरोध का सिनेमा” का यह 26वाँ आयोजन था। पहले आजमगढ़ फिल्म फेस्टिवल का उद्घाटन प्रख्यात लेखिका एवं सामाजिक कार्यकर्ता अरुंधति रॉय ने किया।

इस मौके पर चर्चित फिल्मकार संजय काक ने कहा कि दो दशक में तकनीक का लाभ उठाकर अलग किस्म का सिनेमा बन रहा है जिसने हमारे सामने एक नयी दुनिया खोली है। बॉलीवुड का सिनेमा पैसे के बोझ से दबा है। वह न एक कदम आगे बढ़ सकता है न दाएँ या बाएँ देख सकता है। उसकी सारी कोशिश सिनेमा में लगाये गये पैसे को वापस लाने की होती है इसलिए वह जनता से नहीं जुड़ सकता।

प्रतिरोध के सिनेमा के राष्ट्रीय संयोजक संजय जोशी ने प्रतिरोध के सिनेमा की वर्ष 2006 से शुरू हुई यात्रा के बारे में बताते हुए कहा कि इन फिल्म समारोहों का आयोजन जनता के सहयोग से हो रहा है और छोटे शहरों में इसकी सफलता ने साबित किया है कि जनता के सुख, दुःख और संघर्ष से जुड़ा सिनेमा ही असली सिनेमा है न कि तमाशा खड़ा करने वाला बॉलीवुड।

फिल्म फेस्टिवल में अरुंधति रॉय ने कहा...

“मैं आजमगढ़ में आकर खुश हूँ। यह शहर कविता, गीत, संगीत का शहर है लेकिन मीडिया ने इस तरह प्रचारित किया कि जैसे आजमगढ़ के खेतों में आतंकवादी उगते हैं और यहाँ के कारखानों में बम बनाये जाते हैं। इस मौके पर मैं सिनेमा के बारे में ज्यादा कुछ नहीं कहूँगी लेकिन इतना कहना चाहूँगी कि जैसे देश में जंग लड़ी जाती है, बाँध बनाये जाते हैं, निजीकरण होता है तो वह भी गरीबों के नाम पर ही होता है, उसी तरह हमारे फिल्म स्टार, गरीबों के कंधे पर सवार होकर फिल्म स्टार बने हैं।

आप देखिये पहले फिल्म के कैरेक्टर गरीब होते थे, झुग्गी-झोपड़ी में रहते थे। अमिताभ बच्चन की फिल्म कुली याद करिये, जिसमें वह इकबाल नाम के कुली हैं और ट्रेड यूनियन से जुड़े हैं। वह जमाना गया, आज हमारी फिल्म का हीरो कौन

है? अम्बानी है। गुरु फिल्म को याद करें। तो आज की फिल्मों के ये हीरो हैं। आज कुछ फिल्में गरीबी पर बन जाती हैं जैसे स्लमडॉग मिलेनियर, लेकिन इसमें गरीबी को साइक्लोन, भूकम्प की तरह भगवान का बनाया हुआ बताया जाता है। इसमें कोई विलेन नहीं होता और इस तरह से हमारे इमेजिनेशन पर कब्जा कर बताया जाता है कि एनजीओ और कॉरपोरेट की मदद से गरीबी को खत्म किया जा सकता है।

बीस वर्ष पहले हमारे देश में दो ताले एक साथ खुले। एक बाबरी मस्जिद का और दूसरा बाजार का। विनिर्माण की इस प्रक्रिया ने एक तरफ मुस्लिम आतंकवाद को पैदा किया तो दूसरे माओवाद को। आज ऐसी स्थिति बना दी गयी है कि जो भी पार्टी सत्ता में आयेगी वह राइट विंग ही होगी और वह हमारे देश को और ज्यादा पुलिस स्टेट बनायेंगे। भारत में जो आर्थिक तरक्की चल रही है, उसमें 30 करोड़ मध्यम वर्ग आ गया है, लेकिन इसके लिये 80 करोड़ लोगों को गरीबी में डूबो दिया गया है। ये 80 करोड़ लोग सिर्फ 20 रुपये रोज पर गुजारा करते हैं।

हमारे देश के ढाई लाख से अधिक किसान अब तक खुदकुशी के लिए मजबूर हो चुके हैं। दुनिया के सबसे ज्यादा गरीब लोग हमारे देश में रहते हैं और इनको देने के लिए सरकार के पास पानी, अस्पताल, स्कूल नहीं है, लेकिन हम अरबों रुपयों का हथियार खरीदते हैं ताकि हमें महाशक्ति कहा जाये। मुकेश अम्बानी की रिलायंस इंडस्ट्रीज के पास दो लाख करोड़ की पूँजी है तो खुद उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति एक लाख करोड़ रुपये है।

देश के 100 सबसे अमीर लोगों के पास देश के जीडीपी की एक चौथाई के बराबर सम्पत्ति है। अम्बानी ने अभी 27 टीवी चैनलों को खरीद लिया। जाहिर है अब ये चैनल क्या दिखायेंगे और बतायेंगे। जिसके पास एक लाख करोड़ है वह क्या नहीं खरीद सकते। सरकार, चुनाव, अदालत, मीडिया और सब कुछ। ये सरकार चलाते हैं, शिक्षा, स्वास्थ्य योजनायें बनाते हैं और अब हमारी जिंदगी भी चलाना चाहते हैं।

छत्तीसगढ़, ओड़ीसा, झारखंड आदि प्रदेशों में 2004 में कम्पनियों ने 100 से ज्यादा एमओयू पर हस्ताक्षर किये। आदिवासियों को बंदूक देकर सलवा जुद्ध का भागीदार बनाया

गया और जंगल में बहुत बड़ी लड़ाई खड़ी की गयी है। 600 गाँव जला दिये गये। तीन लाख लोगों को उनके घर से भगा दिया गया। जिसने विरोध किया उसे माओवादी कह कर मार डाला या जेल में डाल दिया।

इसी कड़ी में पिछले दिनों छत्तीसगढ़ के बीजापुर में 17 आदिवासियों को मार दिया गया। दंतेवाडा की आदिवासी शिक्षिका सोनी सोरी के साथ क्या हुआ, आप जानते हैं? ऐसी स्थिति में लेखकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है, लेकिन सरकार और औद्योगिक घराने लेखकों से कहते हैं कि दूर जाकर बच्चों की कहानी लिखो, दिमाग बंद कर चिल्लाओ। ऐसा करने के लिये साहित्य, नृत्य, संगीत उत्सवों को आयोजित किया जाता है।

अमरीका में रॉकफेलर फाउंडेशन ने सीआईए बनायी। कार्गिल फॉर फॉरेन रिलेशन (सीएफआर) बनाया। वर्ल्ड बैंक बनाया। अब ये संस्थान माइक्रोफाइनेन्स से सबसे गरीब लोगों से पैसा खींच रहे हैं। माइक्रोफाइनेन्स के जाल में फंसकर एक साल में 200 लोगों को खुदकुशी करनी पड़ी, आदिवासी, मुसलमान, किसान, मजदूर सब इसकी मार की जद में हैं, लेकिन हम एक होकर लड़ नहीं पा रहे, क्योंकि इन्होंने हमें बाँट रखा है।

हम बँटे हैं दलितों और आदिवासियों में, शिया और सुन्नी में। यह बँटवारा खड़ा करने के लिये ये फाउंडेशन पहचान की राजनीति, धार्मिक अध्ययन के नाम पर स्कॉलरशिप, फेलोशिप देते हैं। जो इस पर सवाल खड़ा करता है, इन झॉसों में नहीं आता उसे नक्सली, माओवादी, आतंकवादी कह कर जेल में डाला जाता है, मार दिया जाता है। आज देश में बड़ा प्रेशर बनाया जा रहा है कि नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री बनाओ। गुजरात में मुसलमानों का संहार भूल जाओ। यह वही लोग हैं जो एक समय बाजार को खोलने के लिए मनमोहन सिंह को सिर पर बैठाये घूम रहे थे। आज उन्हें एक कट्टर व्यक्ति की जरूरत है जो इस सिलसिले को तेजी से चलाये।”

फिल्म समारोह के अंत में ओड़ीसा से आये फिल्मकार सूर्य शंकर दास ने कई छोटी फिल्मों के जरिये ओड़ीसा में खनन कम्पनियों के खेल, सरकार और मीडिया से उनकी साँठ-गाँठ को उजागर किया। दर्शकों से संवाद करते हुए उन्होंने कहा कि इस समय मुख्यधारा के मीडिया ने अपना पूँजीपरस्त एजेंडा साफ कर दिया और इस बात की सम्भावना बहुत कम है कि उसमें सच्चाई को जगह मिल पायेगी। कई बार सच्चाई सामने लाने की बात तो दूर मीडिया घराने जन सामान्य के विरोध को

आतंकवाद, नक्सलवाद का नाम देकर जनता के खिलाफ खड़े भी हो जाते हैं।

उन्होंने कहा कि इस मुश्किल दौर में भी कुछ स्वतंत्र फिल्मकारों, पत्रकारों ने वीडियो फुटेज, छोटी फिल्मों के जरिये जन प्रतिरोध को आवाज देने की लगातार कोशिश जारी रखी है।

के के पाण्डेय ने आजमगढ़ फिल्म सोसाइटी की तरफ से आयोजन को सफल बनाने के लिये सभी लोगों का आभार व्यक्त किया और उम्मीद जतायी कि प्रतिरोध के अभियान का यह सिलसिला अब हर वर्ष आजमगढ़ में कायम रहेगा।

आजमगढ़ का पहला फिल्म फेस्टिवल बहुत उमस वाले मौसम में बिना एसी वाले हॉल के कारण दर्शकों को मुश्किल में तो डाल रहा था, लेकिन नयी चीजों को देखने-समझने के अहसास के कारण वे रह-रहकर समारोह में बने रहे। हॉल के बाहर अजय जेटली, अंकुर और मृत्युंजय द्वारा तैयार विश्व सिनेमा की प्रदर्शनी और गोरखपुर फिल्म सोसाइटी के स्टाल की वजह से भी दर्शक आयोजन से बंधे रहे। इस मौके पर अशोक भौमिक के उपन्यास ‘शिप्रा एक नदी का नाम है’ का लोकार्पण उद्घाटन सत्र में अरुंधति राय और संजय काक ने किया।

इस मौके पर मंच पर दिल्ली से आये पत्रकार जितेन्द्र कुमार, जन संस्कृति मंच के प्रदेश सचिव मनोज कुमार सिंह, आजमगढ़ फिल्म समारोह के अध्यक्ष डॉ. विजय बहादुर राय उपस्थित थे। समारोह का संचालन फिल्म समारोह के संयोजक डॉ. विनय सिंह यादव ने किया।

फेस्टिवल में रहा खास

आजमगढ़ में हो रहे पहले फिल्म फेस्टिवल के लिये लोगों में गजब का उत्साह था। शनिवार 14 जुलाई को 11 बजते-बजते नेहरू हाल खचाखच भर गया। उद्घाटन सत्र के बाद नार्मन मैक्लरेन की कमाल की एनिमेशन फिल्म **नेबर** और बर्ट हान्स्त्र की **जू** दिखायी गयी। दोनों फिल्मों में कोई संवाद नहीं था। इसके बाद भारतीय सिनेमा के 100 वर्ष पूरे होने के अवसर पर मृणाल सेन की अमर फिल्म **भुवन शोम** दिखायी गयी।

दोपहर के सत्र में केपी ससी की म्यूजिक वीडियो **गाँव छोरब नहीं** दिखायी गयी। पाँच मिनट के इस वीडियो म्यूजिक में आदिवासियों के संघर्ष को गाँव, जंगल पहाड़ बचाने के लिये किये जा रहे संघर्ष को खूबसूरत गीत में पिरोया गया है।

वीपिंग लूम्स अरमा अंसारी की फिल्म है जो बुनकरों की जिन्दगी पर है। अरमा अंसारी खुद बुनकर परिवार की हैं

और उन्होंने अपनी पढ़ाई के दौरान इसे बनाया। यह फिल्म एक कविता की तरह है जो बुनकरों और उनके घर की स्त्रियों, बच्चों के लूम से रिश्ते की कहानी कहती है।

अमुधन आरपी की फिल्म **पी** मैला ढोने वालों की कहानी है। आजमगढ़ फिल्म सोसाइटी से जुड़े अंकित ने इसका हिंदी अनुवाद भी फिल्म के साथ-साथ दर्शकों के लिये किया।

अनुपमा श्रीनिवासन की फिल्म **आई वंडर** गुजरात, राजस्थान, सिक्किम, तमिलनाडू के ग्रामीण बच्चों के स्कूल, घर और ज़िंदगी में झाँकते हुए यह बताने की कोशिश करती है कि ये बच्चे अपने परिवेश से और स्कूल में क्या सीख रहे हैं। फिल्म यह सवाल भी उठाती है कि आखिर स्कूल की कक्षाएँ उनके लिये बोरिंग क्यों हैं।

पहले दिन के आखिर सत्र में संजय काक की फिल्म **जश्न-ए-आजादी** दिखायी गयी। यह फिल्म इस बात से रू-ब-रू कराती है कि कश्मीर में आजादी का मतलब क्या है।

फेस्टिवल के दूसरे दिन रविवार को बच्चों के सत्र में दो फिल्में **जन्नत के बच्चे** और **लाल गुब्बारा** दिखायी गयी। **जन्नत के बच्चे** प्रसिद्ध इरानी फिल्मकार माजिद मजीदी की फिल्म है। एक गरीब परिवार के भाई-बहन अली और जहरा के पास सिर्फ एक जोड़ी जूते हैं। वे अपने माँ-बाप की माली हालत से वाकिफ हैं इसलिए नये जूते की फरमाइश नहीं करते। दोनों बारी-बारी एकमात्र जूते को पहनकर स्कूल जाते हैं। अली स्कूल की रेस कम्पटीशन में भाग लेता है और तीसरे स्थान पर आना चाहता है ताकि इनाम में एक जोड़ी जूता जीत सके, लेकिन रेस के अंतिम समय में जब उसे लगता है कि वह तीसरे स्थान पर भी नहीं आ पायेगा तो पूरी ताकत लगाकर दौड़ पड़ता है। वह रेस में प्रथम स्थान पर आ जाता है और उसे बड़े-बड़े इनाम मिलते हैं, लेकिन जूते न मिलने का दुःख उसे सालता है। लोग उसे कंधों पर उठाए जश्न मना रहे हैं, लेकिन उसका चेहरा आँसुओं में डूबा हुआ है।

रेड बैलून फिल्म पास्कल नाम के एक बच्चे की लाल गुब्बारे से दोस्ती की फिल्म है। शरारती बच्चे एक दिन इस बैलून को नष्ट कर देते हैं जिससे पास्कल उदास हो जाता है। उसकी उदासी दूर करने के लिए सैकड़ों गुब्बारे उसके पास आ जाते हैं और उसे पेरिस की सैर कराते हैं।

सुपरमैन आफ मालेगाँव में मालेगाँव में वीडियो कैमरे पर फीचर फिल्में बनाने वाले फिल्मों के शौकीन युवाओं की

कहानी को बहुत ही रोचक ढंग से फैजा अहमद खान ने उतारा है।

महुआ मेंमवाज में विनोद राजा ने आड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, आन्ध्र प्रदेश में खनन कम्पनियों द्वारा आदिवासियों के विस्थापन और उसके संघर्ष को बयाँ किया है। यह फिल्म आदिवासियों की जीवन संस्कृति को बहुत संवेदनशील ढंग से सामने लाती है।

कॉटन फॉर माई श्राउड नंदन सक्सेना और कविता बहल की फिल्म है जो विदर्भ में कपास किसानों की खुदकुशी के कारणों की तलाश करती है। फिल्म जमीनी नजरिये से यह समझाने की कोशिश करती है कि कपास किसानों की हताशा का कारण क्या कृषि कर्ज का संकट है या वे विकास की गलत अवधारणा के शिकार हुए हैं।

शकेब अहमद की फिल्म **दास्तान-ए-खामोशी: आजमगढ़** में आजमगढ़ को आतंक के गढ़ के रूप में बदनाम किये जाने के दुष्प्रचार के षड्यंत्र को समझने की कोशिश करते हुए आजमगढ़ के इतिहास और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य से परिचय कराती है।

गोरखपुर फिल्म सोसाइटी की फिल्म **गोरखपुर डायरी खामोशी** में पूर्वी उत्तर प्रदेश में इंसेफेलाइटिस की त्रासदी को संवेदनशील तरीके से सामने लाती है।

(जसम और आजमगढ़ फिल्म सोसायटी की रपट)

□

“मैंने किसी बड़ी पूँजी वाले समाचार संगठन के लिये कभी काम नहीं किया। न ही मैंने मुख्यधारा के राष्ट्रिय मीडिया के लिये कभी काम किया। मेरा सम्बन्ध हमेशा वैकल्पिक मीडिया संस्थानों से रहा है। इसके चलते मेरे सामने विकल्प बहुत ही सीमित रहे हैं और काम करने के लिये बहुत बड़ा दायरा भी नहीं रहा... हालाँकि, वैकल्पिक मीडिया के लिये स्वतन्त्र रिपोर्टिंग मेरे मिजाज से काफी मेल खाती है और यह मुझे “परंपरागत बुद्धि” से आगे जाकर सत्य का पता लगाने के लिये प्रोत्साहित करती है।”

पाकिस्तानी पत्रकार सलीम शहजाद, जिनकी पिछले साल जून में रहस्यमय तरीके से हत्या कर दी गयी थी। उन्होंने पाकिस्तानी सेना और अल कायदा से बीच सम्बन्धों का खुलासा करते हुए एक रिपोर्ट लिखी थी।

अमीरों की मितव्ययिता

-पी साईनाथ

योजना आयोग के अनुसार अगर एक ग्रामीण भारतीय प्रतिदिन 22 रुपये 50 पैसे खर्च करता है तो वह गरीब नहीं माना जायेगा, जबकि पिछले साल मई और अक्टूबर के बीच इसी योजना आयोग के उपाध्यक्ष की विदेश यात्राओं पर 2.02 लाख रुपये रोजाना औसत खर्च आया है।

खर्चों में कटौती के प्रणव मुखर्जी के भावनात्मक आह्वान ने देश को भावुक कर दिया था। इससे पहले प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह भी इसकी वकालत कर चुके थे और उन्होंने अपनी जमात के लोगों को रचनात्मक तरीकों से इसे अपनाते देखा। यहाँ तक कि 2009 में ही विदेश मंत्रालय ने इस आह्वान पर ठोस कार्रवाई करने की उम्मीद जतायी थी, (किफायती दर्जे में हवाई यात्रा, खर्चों में कटौती) लेकिन चार साल बाद भी यह सपना, सपना-भर ही है।

निश्चय ही, हमारे यहाँ कई प्रकार की मितव्ययिताएँ हैं। इन अनेकों आजमाये गये तरीकों में से योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह अहलूवालिया वाली किस्म को लेते हैं। खर्चों में कटौती के लिये डॉ. अहलूवालिया की वचनबद्धता को कोई भी चुनौती नहीं दे सकता। देखिए वह किस तरह गरीबी रेखा के बारे में उस लोक-लुभावन माँग के खिलाफ अडिग खड़े रहे हैं जो मानीखेज है। जनता की कर्तई खुशामद नहीं की गयी। शहरी भारत में 29 रुपये या ग्रामीण भारत में 23 रुपये रोज खर्च करें तो आप गरीब नहीं हैं। यहाँ तक कि उन्होंने उच्चतम न्यायालय से भी अपने लाखों-करोड़ों देशवासियों के प्रति इस कठोरता को बनाये रखने का अनुरोध किया है। योजना आयोग द्वारा दायर एक हलफनामे में 32 रुपये (शहरी) और 26 रुपये (ग्रामीण) प्रतिदिन की गरीबी रेखा की वकालत की गयी है। उसके बाद से, इस पदम विभूषण विजेता और इसके कुछ सहयोगियों ने इस गरीबी रेखा को और कम करने के लिये बेहिचक अपनी राय पेश की है।

आरटीआई पूछताछ

डॉ. अहलूवालिया मितव्ययिता को खुद पर लागू करते हैं इस बात की पुष्टि दो आरटीआई प्रश्नों से हो जाती है। दोनों ही आरटीआई-आधारित पत्रकारिता के बेहतरीन उदाहरण हैं, परन्तु उन्हें उतनी तवज्जो नहीं मिल पायी जिसके वे हकदार

हैं। उनमें से एक श्यामलाल यादव द्वारा दी गयी इंडिया टुडे की खबर है जिसमें जून 2004 से जनवरी 2011 के बीच डॉ. अहलूवालिया की विदेश यात्राओं का ब्यौरा है। यह पत्रकार (जो अब इंडियन एक्सप्रेस में काम करते हैं) पहले भी आरटीआई पर आधारित बेहतरीन खबरें दे चुके हैं।

दूसरी खबर, इस साल फरवरी में, द स्टेट्समैन न्यूज सर्विस में प्रकाशित हुई (पत्रकार का नाम नहीं दिया गया है)। इसमें मई और अक्टूबर 2011 के बीच में डॉ. अहलूवालिया की विदेश यात्राओं का ब्यौरा है। एएसएनएस की रिपोर्ट कहती है कि “इस अवधि में, चार यात्राओं के लिये 18 रातों के दौरान राजकोष को कुल 36,40,140 रुपये कीमत चुकानी पड़ी, जो औसतन 2.02 लाख रुपये प्रतिदिन बैठती है।”

जिस दौरान यह सब हुआ, उस समय के हिसाब से 2.02 लाख रुपये (4,000 डॉलर) प्रतिदिन के बराबर बैठते हैं। (अहा! हमारी खुशकिस्मती है कि मोंटेक मितव्ययी हैं। अन्यथा कल्पना करें कि उनके खर्च कितने अधिक होते)। प्रतिदिन का यह खर्चा उस 45 सेंट की अधिकतम सीमा से 9,000 गुना ज्यादा है जितने पर उनके अनुसार एक ग्रामीण भारतीय ठीक-ठाक जी ले रहा है, या उस शहरी भारतीय के लिये 55 सेंट की अधिकतम सीमा से 7,000 गुना ज्यादा है जिसे डॉ. अहलूवालिया “सामान्य तौर पर पर्याप्त” मानते हैं।

यहाँ हो सकता है कि 18 दिनों में खर्च किये गये 36 लाख रुपये (या 72,000 डॉलर) उस साल विश्व पर्यटन के लिये दिया गया उनका निजी प्रोत्साहन हो। आखिरकार, 2010 में पर्यटन उद्योग अभी भी 2008-09 के विनाश से उबर ही रहा था, जैसा कि संयुक्त राष्ट्र विश्व पर्यटन संगठन ध्यान दिलाता है। दूसरी तरफ, यूएन संस्था ने पाया कि 2010 में वैश्विक यात्राओं पर वार्षिक आय 1,000 अरब डॉलर तक पहुँच गयी। वार्षिक आय में सबसे ज्यादा बढ़त अमरीका और यूरोप में देखी गयी (जहाँ उन 18 दिनों में से ज्यादातर दिन व्यतीत किये गये)। भारतीय जनता इस बात पर खुशी मना सकती है कि उन देशों की सेहत सुधारने में उन्होंने भी एक सादगीपूर्ण भूमिका निभायी, तब भी जबकि वे घर पर खर्चों में कटौती की मार झेल रहे थे।

श्यामलाल यादव की आरटीआई में दिये गये आँकड़े बेहद दिलचस्प हैं। शुरुआत के लिये उनकी जाँच दिखाती है कि अपने सात साल के कार्यकाल में डॉ. अहलूवालिया ने 42 आधिकारिक विदेश यात्राएँ की और विदेशों में 274 दिन बिताये। इस तरह यह “हर नौ में से एक दिन” विदेश में पड़ता है और इसमें यात्रा करने में लगे दिन शामिल नहीं हैं। इंडिया टुडे की खबर ने पाया कि उनके इस भ्रमण के लिये राजकोष से 2.34 करोड़ रुपये खर्च किये गये, यह बताया गया है कि उनकी यात्राओं के सम्बन्ध में उन्हें तीन अलग-अलग अनुमान प्राप्त हुए थे और उदारतापूर्वक उन्होंने अपनी खबर के लिये सबसे कम खर्च वाले अनुमान को चुना। साथ ही, इंडिया टुडे की खबर कहती है, “यह स्पष्ट नहीं है कि इन आँकड़ों में भारतीय दूतावास के द्वारा विदेश में किये गये अतिरिक्त खर्च, जैसे लिमोसिन को किराये पर लेना शामिल हैं या नहीं। वास्तविक खर्च काफी ज्यादा हो सकते हैं।”

चूँकि जिस पद पर वह हैं उसके लिये ज्यादा विदेश यात्राओं की आवश्यकता नहीं है हालाँकि, यह सब “प्रधानमंत्री की इजाजत” से किया गया है यह काफी दुविधा में डाल देने वाला है। 42 यात्राओं में से 23 अमरीका के लिये थी, जो योजना में विश्वास नहीं करता (योजना में तो, शायद डॉ. अहलूवालिया भी विश्वास नहीं करते), तब यह और भी ज्यादा दुविधा में डाल देने वाली बात है। ये यात्राएँ किस बारे में थी? मितव्ययिता के बारे में वैश्विक जागरूकता का प्रसार करने के लिये? यदि ऐसा है तो, हमें उनकी यात्राओं पर और ज्यादा खर्च करना होगा एथेन्स की सड़कों पर इस ध्येय को ध्वस्त करते हुए विद्रोही ग्रीसवासियों पर ध्यान दें और उससे भी ज्यादा उनकी अमरीका यात्राओं पर जहाँ अमीरों की मितव्ययिता असाधारण है। यहाँ तक कि उस देश के मैनेजरों ने 2008 में भी करोड़ों रुपये बोनस लिये, जिस साल वॉल स्ट्रीट ने विश्व अर्थव्यवस्था का भट्ठा बिठा दिया था। इस साल, अमरीका में बेहद-अमीर मीडिया अखबार भी लिख रहे हैं कि ये मैनेजर ही कम्पनियों, नौकरियों और तमाम चीजों का विनाश कर रहे हैं और इस सबसे व्यक्तिगत लाभ उठा रहे हैं। लाखों अमरीकी, जिनमें वे भी शामिल है जो बंधक घरों की नीलामी का शिकार हुए हैं, वे अलग तरह की मितव्ययिता भुगत रहे हैं। उस तरह की, जिससे फ्रांसीसी घबराये हुए थे और जिसके खिलाफ उन्होंने वोट दिया।

2009 में जब डॉ. सिंह ने खर्चों में कटौती का अनुरोध किया, तब उनके मंत्रिमंडल ने इस आह्वान का शानदार जवाब दिया। अगले 27 महीनों के दौरान हर सदस्य ने औसतन, कुछ

लाख रुपये प्रति महीने अपनी सम्पत्ति में जोड़े। यह सब उस दौरान, जब वे मंत्रियों के तौर पर कठिन मेहनत कर रहे थे। प्रफुल पटेल इनमें सबसे आगे रहे, जिन्होंने इस दौरान अपनी सम्पत्ति में हर 24 घंटे में, औसतन पाँच लाख रुपये जोड़े। तब जब एयर इंडिया के कर्मचारी, जिस मंत्रालय में ज्यादातर समय वे ही मंत्री थे, हफ्तों तक अपनी तनखाह पाने के लिये संघर्ष कर रहे थे। अब जबकि प्रणव अपना कोड़ा फटकार रहे हैं, तब और भी ज्यादा मितव्ययिता देखने को मिलेगी।

अब इस मितव्ययिता के द्विदलीय भाईचारे को देखें: प्रफुल्ल पटेल (यूपीए-एनसीपी) और नितिन गडकरी (एनडीए-बीजेपी) ने अभी तक की दो सबसे महँगी शादियों का आयोजन किया, जिसमें किसी आईपीएल फाइनल से भी ज्यादा मेहमान शामिल थे। लिंग-संतुलन का कठोर अनुशासन भी। ये आयोजन मि. पटेल की बेटी के लिये और मि. गडकरी के बेटे के लिये थे।

इनके कॉर्पोरेट प्रतिरूपों ने इसे और आगे बढ़ाया। समकालीन स्मृति में मुकेश अंबानी का सबसे महँगा 27 मंजिल (पर उसकी ऊँचाई 50 मंजिल के बराबर है) का घर और विजय माल्या ने, जिनके कर्मचारी किंगफिशर में अपनी तनखाहों के लिये संघर्ष कर रहे हैं, 5 मई को ट्वीट किया “दुबई में बुर्ज खलीफा के 123वें माले पर एटमोसफियर में रात्रिभोज कर रहा हूँ। मैं अपने जीवन में कभी इतनी ऊँचाई पर नहीं आया। शानदार दृश्य।” यह शायद उससे अधिक ऊँचाई पर है जहाँ अभी किंगफिशर उड़ान भर रही है। दोनों की आईपीएल में खुद की टीमें हैं। एक ऐसी संस्था जिसे सार्वजनिक आर्थिक सहायता मिली है (उदाहरण के लिये, मनोरंजन कर में छूट)। यह तब तक, जब तक मामला बम्बई उच्च न्यायालय में नहीं गया। आईपीएल से जुड़ी जनता के पैसे से चलने वाली अन्य मितव्ययिताएँ भी हैं, इन खबरों का इंतजार करें।

वाल स्ट्रीट मॉडल

कॉर्पोरेट जगत आम तौर पर वाल स्ट्रीट के मॉडल का अनुसरण करता है। वहाँ के नौ बैंकों ने जिनमें सिटीग्रुप और मेरिल लिंच शामिल हैं, “2008 में 32.6 बिलियन डॉलर बोनस के तौर पर दिये, ठीक उस समय जब सरकार ने करदाताओं के पैसे से 175 बिलियन डॉलर का राहत पैकेज दिया,” ब्लूमबर्ग ने 2009 में रिपोर्ट दी। उसने इस विषय पर न्यूयॉर्क के अटॉर्नी जनरल एंड्रयू क्यूओमो की रिपोर्ट से उद्धृत किया “जब बैंक बेहतर कर रहे थे, तब उनके कर्मचारियों को अच्छी तनखाह दी जा रही थी। जब बैंक खराब प्रदर्शन कर रहे थे तब भी उनके

कर्मचारियों को अच्छी तनखाह दी जा रही थी। जब बैंकों ने बेहद खराब प्रदर्शन किया तो करदाताओं ने उनकी जमानत ली और उनके कर्मचारियों को तब भी अच्छी तनखाह दी गयी। जैसे-जैसे मुनाफा कम होता गया, उनके बोनस और दूसरे प्रोत्साहन राशि में कोई कमी नहीं आयी।”

ध्यान दें कि पिछले सप्ताह जब प्रणब ने मितव्ययिताओं की अपील की तो बेहद-अमीरों के प्रवक्ताओं को टीवी पर बहुत जोर-शोर से यह कहते हुए देखा गया कि घाटा पूरी तरह से “एक के बाद एक होने वाली लोकलुभावन कार्रवाहियों” की वजह से है, जिसमें ऐसे मूर्खतापूर्ण काम शामिल हैं- जैसे, लोगों को काम देना, भुखमरी को कम करना, बच्चों को स्कूल भेजना। इसमें धनाढ्य वर्ग के लिये किये गये लुभावने कामों का कोई जिक्र नहीं है जिसके तहत इन्हीं प्रणब के बजट से कॉरपोरेट टैक्स, उत्पाद और सीमा शुल्क में रियायत देकर लगभग 5 लाख करोड़ रुपये (उस समय लगभग 100 बिलियन डॉलर) मुख्य रूप से अमीर और कॉरपोरेट वर्ग को तोहफे में दे दिये गये। सीताराम येचुरी ने इस बात की ओर संसद का ध्यान दिलाया है कि बेहद अमीरों के लिये बड़े खाते में डाले गये पैसों की वजह से राजकोषीय घाटा 8,000 करोड़ रुपये ज्यादा बढ़ गया है। लेकिन सिर्फ गरीबों के लिये किये जाने वाले “लोकलुभावन काम” ही हैं। जिनकी आलोचना की जाती है।

अमर्त्य सेन खेदपूर्वक पूछते हैं कि “राजस्व से सम्बंधित समस्याओं पर मीडिया में किसी भी तरह की बहस क्यों नहीं होती है, जैसे कि सोने और चाँदी को सीमा शुल्क में छूट, वित्त मंत्रालय के अनुसार, इसमें राजस्व का उससे ज्यादा नुकसान होता है (प्रति वर्ष 50,000 करोड़ रुपये) जितनी अतिरिक्त राशि (27,000 करोड़ रुपये) खाद्य सुरक्षा बिल के लिये जरूरी है।”

इस सर्वगुण संपन्न सम्मोहक दायरे के बाहर रहने वाले भारतीय एक अलग तरह की मितव्ययिता जानते हैं। खाद्य मुद्रास्फीति दो अंकों में है। एक साल में सब्जियों के दाम 60 प्रतिशत बढ़ चुके हैं। बच्चों में कुपोषण सब-सहारा अफ्रीका से दोगुना है। परिवार दूध और दूसरी जरूरी चीजों का उपयोग तेजी से कम कर रहे हैं। स्वास्थ्य सेवाओं में भारी वृद्धि लाखों लोगों को कंगाल कर रही है। किसान निवेश करने में और कर्ज हासिल करने में असमर्थ हैं। बहुत से लोगों को पीने के पानी की कमी है, क्योंकि इस जीवनदायिनी वस्तु का दूसरे कामों के लिये इस्तेमाल किया जा रहा है। उच्च वर्ग के लोग मितव्ययिता का अभ्यास करें तो कितना बेहतर होगा।

(‘द हिन्दू’ में प्रकाशित पी. साईनाथ के लेख की आधार सहित प्रस्तुति। अनुवाद- दिनेश पोसवाल) □

एकाधिकारी पूँजी और लोकतंत्र

एकाधिकारी पूँजी के दौर में लोकतंत्र आसानी से खरीदने-बेचने की चीज हो जाती है। संसद दिखाने के दाँत भर होता है। असली फैसले कम्पनियों के हेड क्वार्टर में या संसद के बाहर लिये जाते हैं। इसका ताजा उदाहरण द हिंदू (21 जुलाई, 2012) की एक खबर है जो आकार में छोटी लेकिन काफी अर्थपूर्ण है।

प्रधानमंत्री आर्थिक सलाहकार परिषद के अध्यक्ष सी रंगराजन ने कहा कि डीजल के दाम और खुदरा व्यापार में विदेशी निवेश से नियंत्रण हटा लिया जाना चाहिये। उनका कहना है कि *खुदरा व्यापार और नागरिक उड्डयन में विदेशी निवेश का फैसला कार्यकारी आदेश से होना चाहिए, इसके लिए संसद में जाने की कोई जरूरत नहीं है।* उन्होंने बीमा और पेन्सन में विदेशी निवेश का प्रतिशत और अधिक बढ़ाने के लिए आम सहमति बनाने का भी सुझाव दिया।

मजेदार बात यह कि उसी दिन के सम्पादकीय पन्ने पर प्रशांत भूषण ने लोकतंत्र को महिमामंडित करते हुए और नीतियों पर जनमत संग्रह कराने के फायदे गिनवाते हुए लम्बा लेख लिखा है। हालाँकि उनके उदाहरण में ही उरुग्वे में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा वोट खरीदने का जिक्र भी आया है।

लोगों को भ्रम है कि हम सरकार चुनते हैं। खैर, हम चुनते भी हैं, लेकिन उसके बाद तो वे देशी-विदेशी कम्पनियों के प्रबंध निदेशक बन जाते हैं। और रंगराजन को किसने चुना है? मॉटू को किसने चुना है? सारी नीतियों के पीछे इन्हीं का तो दिमाग है।

पूँजीवादी अर्थतंत्र और लोकतान्त्रिक राजनीतिक ढाँचे के बीच जन्मजात विरोध होता है। इस बात को बाबा साहब डॉ. भीमराव आंबेडकर ने साफ शब्दों में रखा था, जब संविधान के लोकार्पण के उल्लास के मौके पर यह असुविधाजनक बात कही थी। उनका कहना था कि कल से हम एक विरोधाभास का सामना करेंगे, संविधान के मुताबिक हर व्यक्ति बराबर होगा, जबकि सामाजिक स्तर पर लोग ढेर सारे भेदभाव और असमानता के शिकार होंगे। उन्होंने आशंका जतायी थी कि क्या ऐसी स्थिति के रहते हम अपनी आजादी को बरकरार रख पायेंगे? आज आर्थिक और राजनीतिक ढाँचे का यह अंतर्विरोध अपने चरम पर है क्योंकि आर्थिक असमानता सारी हदें पार करती जा रही है। लोकतंत्र की जगह आज अल्पतंत्र, कुलीनतंत्र, धनतंत्र का बोलबाला है। यह भारतीय सामाजिक जीवन के हर पहलू को अपने शिकंजे में जकड़ चुका है। □

विदेशी हस्तक्षेप की आशंकाएँ सच क्यों?

-प्रो. अरुण कुमार

इस संदेह के पर्याप्त कारण हैं कि विदेशी कम्पनियाँ राजनीति को प्रभावित करती हैं।

प्रणव मुखर्जी भारत के अगले राष्ट्रपति बनने वाले हैं। जब तक लहर उनके पक्ष में नहीं मुड़ गयी, तब तक उनकी जीत संदिग्ध लगती थी। ऐसे संकेत हैं कि कॉरपोरेट ने उनके पक्ष में माहौल इसलिए नहीं बनाया कि वे सबसे अनुभवी भारतीय राजनीतिज्ञ हैं, बल्कि इसलिए कि वे उन्हें वित्त मंत्रालय से बाहर देखना चाहते थे। पिछले बजट में उन्होंने काली कमाई को रोकने की दिशा में पिछली अवधि से कर लगाने और जीएएआर (टैक्स से बचने वालों के खिलाफ आम नियम) जैसे कुछ उपायों पर काफी काम किया था। लेकिन इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वास्तविक दबाव विदेशी जमीन से आया। भारतीय कॉरपोरेट इस बात के प्रति काफी संवेदनशील होते हैं कि उनके विदेशी समकक्ष क्या सोचते हैं। हमारे राजनेताओं का भी यही हाल है। ब्रिटेन और नीदरलैंड ने वोडाफोन मामले को जोरदार तरीके से प्रभावित किया। हमारी राजनीति किस हद तक ऐसे दबावों से निर्धारित हो रही है?

सरकार पर दबाव

बहुत सी ऐसी ताजा घटनाएँ निश्चित रूप से सरकार पर दबाव को साबित करती हैं- ईरान के साथ व्यापार और खुदरा क्षेत्र में विदेशी निवेश को लेकर सरकार की नीतियों को प्रभावित करने के लिये हिलेरी क्लिंटन की भारत यात्रा, स्टैंडर्ड एण्ड पुअर द्वारा भारत का मानक नीचे खिसकाना, एयरसेल और मैक्सिस का सौदा इत्यादि। इसके अलावा विदेशी दबाव के ऐसे मामले भी हैं जो आम तौर पर साफ-साफ दिखाई नहीं देते, जैसे रक्षा खरीद (भारत द्वारा यूरो फाइटर को रद्द करने पर ब्रिटेन बहुत नाराज था), उर्जा क्षेत्र में निवेश (तेल, गैस और परमाणु उर्जा), बाजारों को खोलना इत्यादि-इत्यादि।

बोफोर्स घोटाले को लेकर 1987 से ही राजनीति पर निरंतर दबाव पड़ता रहा। भूतपूर्व स्वीडिश पुलिस प्रमुख लिण्ड स्ट्रोम, जिन्होंने बोफोर्स-भारत तोप सौदे की जाँच का नेतृत्व किया, उन्होंने हाल ही में रेखांकित किया कि इस बात के पुख्ता सबूत थे कि नेहरू-गाँधी परिवार का करीबी मित्र ओटावियो क्वात्रोची घूस पाने वालों में से एक था। अंतिम समय में बोफोर्स सौदे को लटकाने में उसकी स्पष्ट भूमिका थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि पैसा दिया गया था या बोफोर्स तोपें अच्छी नहीं हैं। अनसुलझा मामला केवल

एक ही है कि पैसा किसने पाया।

श्रीमान क्वात्रोची की प्रभावशाली लोगों से दोस्ती थी, इसकी पुष्टि तब हो गयी, जब कांग्रेसी शासन के दौरान उसे देश छोड़कर भागने की अनुमति मिल गयी। मामले को जाहिरा तौर पर सीबीआई और दूसरी जाँच एजेंसियों ने जानबूझकर कमजोर किया और इसी वजह से मलेशिया, ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया की अदालतों में यह मुकद्दमा हारा गया। उसके खिलाफ जारी रेड कॉर्नर नोटिस को “तामिल नहीं किया जा सका”, यहाँ तक कि हमारी पुलिस एजेंसियाँ उसे “ढूँढ़” नहीं पायीं, जबकि पत्रकार उसके साक्षात्कार लेते रहे।

सबूत एक ऊँचे दर्जे की पर्दापोशी की ओर इशारा करते हैं। एमएस सोलंकी ने जो उस वक्त विदेश मंत्री थे, यह बताने के बजाय केन्द्रीय मंत्री को अपना ओहदा कुर्बान कर दिया कि एक बैठक के दौरान उन्होंने स्विटजरलैंड के विदेश मंत्री को जो पर्ची लिखकर सरकायी थी, उसमें क्या लिखा था। ठीक उसी समय भारतीय पुलिस एजेंसियाँ बोफोर्स रिश्वत के भुगतान की निशानी ढूँढ़ने के लिये स्विस् बैंक के खातों की जाँच कर रही थी। क्या किसी सामान्य नेता के लिये राजनीतिक भविष्य इस तरह कुर्बान किया जा सकता था?

राजीव गाँधी ने नहीं लिया तो आखिर पैसा किसने लिया और जाँच एजेंसियों ने इस मामले को क्यों बिगाड़ा, इन सवालों से जुड़े संदेह दूर करने के लिये जाँच जरूरी है। प्रधानमंत्री कार्यालय के एक पूर्व मंत्री ने काले धन की अर्थव्यवस्था पर एक साक्षात्कार के दौरान इस लेखक को बताया था कि जब वे बोफोर्स की फाइल लेकर तत्कालीन प्रधानमंत्री के पास गये तो उनसे इस फाइल को बंद करने के लिये कहा गया, क्योंकि इससे उनकी जान को खतरा हो सकता था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि किसी भी गैर कांग्रेसी प्रधानमंत्री ने जाँच को पटरी पर लाने के लिये उसके तौर-तरीके में तब्दीली नहीं की और कांग्रेस का कोई भी प्रधानमंत्री नहीं चाहता था कि सच्चाई सामने आये।

घूसखोरी दुनिया में प्रचलित है। स्वीडन दुनिया का सबसे कम भ्रष्ट देश है, लेकिन इसके निगमों ने आर्डर हासिल करने के लिये घूस दी है, जैसा कि बोफोर्स मामला दर्शाता है। अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ रिश्वत का सहारा लेती हैं, बावजूद इसके कि उस देश के कानून के अनुसार यह गैर कानूनी है। हाल ही में वालमार्ट ने स्वीकार किया कि मैक्सिको में अपना काम निकलवाने के लिये उसने रिश्वत का सहारा लिया। जब कम्पनी के शीर्ष प्रबंधकों को इसकी जानकारी हुई तो भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करने के बजाय उन्होंने

अंदरूनी तहकीकात बंद कर दी। वही वालमार्ट भारत में घुसने की लगातार कोशिश कर रहा है। श्रीमती क्लिन्टन की कार्य-सूची में भारत को खुदरा व्यापार के क्षेत्र में विदेशी निवेश के लिये दरवाजा खोलने के लिये पटाना शामिल है। ममता बनर्जी संप्रग की एक महत्वपूर्ण घटक और खुदरा व्यापार में विदेशी निवेश की विरोधी हैं, वही एकमात्र मुख्यमंत्री हैं जिनसे क्लिन्टन मिलने गयीं। यह घटना 90 के दशक में हेनरी किसिंजर और ऊर्जा एवं रक्षा सचिव द्वारा एनरान के पक्ष में समर्थन जुटाने के लिये भारत आगमन की याद दिलाती है। एनरान ने स्वीकार किया था कि उसने भारत के नीति निर्माताओं को “शिक्षित” करने के लिये 6 करोड़ डालर खर्च किये थे। भ्रष्टाचार में लिप्त रहने या नीतियों को प्रभावित करने के लिये अपने देश की सरकारों का इस्तेमाल करने वालों में केवल चंद बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ ही शामिल हैं। बहुराष्ट्रीय बैंक भारतीयों को अपनी पूँजी देश से बाहर ले जाने में मदद करने के लिये कुख्यात हैं। यूबीएस बैंक, जो स्वित्जरलैंड का सबसे बड़ा बैंक है, उसके ऊपर अमरीका ने अपने देश के नागरिकों के गुप्त खाते खोलने के लिये 75 करोड़ का जुर्माना लगाया था। इस बैंक की कारस्तानी का पता होने के बावजूद इसको भारत में कारोबार करने की अनुमति दे दी गयी, कहीं यह कुछ प्रभावशाली लोगों की मदद करने का ईनाम तो नहीं था?

सीमेन्स, जिसे एक ईमानदार बहुराष्ट्रीय कम्पनी माना जाता है और भारत में जिसकी बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका है, उसके प्रशासनिक अधिकारियों पर अमरीका में दिसंबर 2011 में अभियोग लगाया गया था। उन पर अर्जेंटीना में घूसखोरी में लिप्त होने का आरोप था। जाँच में यह पाया गया कि 2001 से 2007 तक कम्पनी ने बाँग्लादेश, चीन, रूस, वेनेजुएला और दूसरे देशों में भी 1.4 अरब डॉलर के गैर कानूनी भुगतान किये थे। ये भुगतान परामर्शदाताओं के माध्यम से किये गये थे। कम्पनी ने पूरी दुनिया में जो घूस दी थी, उसके लिये उसने अमरीका और जर्मनी की सरकारों को 1.6 अरब डॉलर जुर्माना और शुल्क भरा।

सीमेन्स ने दूसरे विश्व युद्ध के ठीक बाद से ही मार्शल योजना के तहत ठेके प्राप्त करने के लिये, जो अधिकांशतः अमरीकियों को ही मिलते थे, घूस देनी शुरू कर दी थी। अपने ऊपर अभियोग लगाये जाने के बाद से ही घूस पर रोक लगाने के लिये सीमेन्स अपनी कम्पनी में एक अधिकारी नियुक्त करने का दावा करती है। लेकिन दुनिया भर में इतने भारी पैमाने पर गैरकानूनी माहौल के रहते क्या कोई कम्पनी ईमानदार बनी रह सकती है, जबकि दूसरे लोग ईमानदार नहीं हैं? फिर उसे ठेके कैसे मिलेंगे, क्योंकि जो लोग ठेका देते हैं वे तो रिश्वत की उम्मीद करते हैं। जब से हर कदम पर अपारदर्शी प्रक्रियाएँ तय की गयी हैं, तब से फ़ैसलों को प्रभावित करने की जरूरत होती है, जैसा बोफोर्स के मामले में या 2जी स्पेक्ट्रम के मामले में देखा गया।

वोडाफोन का मामला काफी महत्वपूर्ण है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ (चाहे भारतीय हों या विदेशी) भारत में कर अदा करने से बचने के लिये कर बचाने वालों के स्वर्ग (जैसे-मॉरीशस) और नियोजन(तीन-तिकड़म करके कर बचाना) का फायदा उठाती रही हैं। कम्पनी के मालिकों या जिनके हाथों हिस्सेदारी बेची गयी, उनकी असली पहचान छुपाने के लिये वे परिसंपत्तियों का एक जाल बुनती हैं। 1985 में मैकडॉवेल के मामले में सर्वोच्च न्यायालय की पीठ ने कहा था कि बनावटी उपायों को कर नियोजन का हिस्सा नहीं माना जा सकता और इस बात को प्रोत्साहित करना या स्वागत करना गलत है कि फर्जी तौर-तरीकों का इस्तेमाल करके टैक्स के भुगतान से छुटकारा पाना सम्मानजनक है। इस फ़ैसले को 2003 में भारत में कर भुगतान से बचने के लिये मारीशस मार्ग के इस्तेमाल को लेकर *भारतीय संघ बनाम आजादी बचाओ आंदोलन* मुकद्दमे में पलट दिया गया। वोडाफोन ने इस फ़ैसले का फायदा उठाया और भारतीय परिसम्पत्तियों के मालिकाने वाली कम्पनी द्वारा किसी कर-स्वर्ग में पंजीकृत कम्पनी को अपनी परिसम्पत्ति हस्तांतरित करने पर भारत में पूँजीगत लाभ कर का भुगतान करने के खिलाफ बहस करने में पूरी तरह सफल रहा। श्री प्रणव मुखर्जी इसी हारी हुई लड़ाई से हुए नुकसान की क्षतिपूर्ति की कोशिश कर रहे थे।

प्रभावी स्वार्थ

1950 के दशक में शीत युद्ध के दिनों से ही भारतीय नीतियाँ विदेशी दबाव के अधीन रही हैं। लेकिन 1980 के दशक के मध्य तक उन्हें “दूरगामी राष्ट्रीय हित” में लिये गये फ़ैसलों के रूप में स्वीकार किया जाता रहा। जगुआर विमान की खरीद के मामले में भी उँगली उठी थी। लेकिन इसने इतना हल्ला-हंगामा पैदा नहीं किया, जितना बोफोर्स काण्ड या 1991 में नयी आर्थिक नीतियों या भारत-अमरीका परमाणु समझौते ने पैदा किया। इन मामलों में तबकाई या निजी स्वार्थ ही हावी रहे हैं। इसने राष्ट्रीय राजनीति से मिलकर तबाही मचायी है। राजनीतिक पार्टियों, उनके नेताओं और बड़े व्यापारियों द्वारा दबाव और जवाबी दबाव बढ़ाया जाता रहा है।

सबक यह है कि विदेशी दबाव उन प्रक्रियाओं को क्षतिग्रस्त करने की ओर अग्रसर होते हैं, जबकि राष्ट्रीय राजनीति उनकी क्षतिपूर्ति नहीं कर सकती। जो कुछ चल रहा है उसने जनता को किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया है जैसा कि राष्ट्रपति प्रत्याशी के चुनाव का मौजूदा मामला।

(लेखक: प्रो. अरूण कुमार, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ सोशल साइंसिज में सेंटर फॉर इकोनॉमिक स्टडीज एण्ड प्लानिंग के अध्यक्ष हैं। ‘द हिन्दू से साभार’) □

नेपाल : संविधान सभा के विघटन के निहितार्थ

-बुद्धेश

लगभग 16 वर्षों के जनयुद्ध (1990-2006), अप्रैल 2006 का जन उभार और काठमांडू की जनघेरेबंदी के फलस्वरूप चुनाव से अस्तित्व में आयी संविधान सभा, बिना संविधान बनाये ही भंग हो गयी। संविधान सभा का नया चुनाव 22 नवम्बर 2012 को प्रस्तावित है। यह चुनाव होगा भी या नहीं, अभी अनिश्चित है। लगभग सभी विपक्षी पार्टियाँ, (माओवादी पार्टी के एक धड़े सहित) इस चुनाव का विरोध कर रही हैं और सत्तारूढ़ राष्ट्रीय सरकार के माओवादी प्रधानमंत्री बाबूराम भट्टराई से इस्तीफे की माँग करते हुए आन्दोलन छेड़ रही हैं।

28 मई 2008 को गणतंत्र की घोषणा के साथ ही यह तय किया गया था कि अगले दो वर्षों में (28 मई 2010 तक) यह संविधान सभा नेपाल के लिए एक नया गणतंत्रिक संविधान बना लेगी, जिसमें दलितों, जनजातियों, महिलाओं और हाशिए पर पड़े लोगों की भी सत्ता में उचित भागेदारी सुनिश्चित हो। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। 28 मई 2010 को संविधान सभा की अवधि एक वर्ष के लिए बढ़ा दी गयी। फिर भी संविधान नहीं बनाया जा सका। इसलिए संविधान सभा का कार्यकाल 20 मई 2011 एक बार फिर तीन महीने के लिये बढ़ाया गया। लेकिन इस बार भी संविधान निर्मित नहीं हो सका। तब एक बार फिर 31 अगस्त 2011 को संविधान सभा का कार्यकाल तीन महीने के लिये बढ़ाना पड़ा। इस बार भी वही हुआ। संविधान बनाया नहीं जा सका। संविधान सभा के 'बढ़ते' प्रत्येक कार्यकाल को स्वीकृति प्रदान करते आ रहे नेपाली सुप्रीम कोर्ट ने इस बार, 25 नवम्बर 2011 को, अगली बार सिर्फ 6 माह के लिये ही संविधान सभा का कार्यकाल बढ़ाने की इजाजत दी और कहा की इस नयी बढ़ी हुई अवधि में अगर संविधान नहीं बनाया जा सका तो संविधान सभा स्वतः भंग हो जायेगी। 30 नवम्बर 2011 को इसे अंतिम बार इस संकल्प के साथ बढ़ाया गया की 28 मई 2012 तक हर हाल में संविधान बना लिया जायेगा। लेकिन हर बार की तरह इस बार भी संविधान नहीं बन सका और संविधान सभा स्वतः विघटित हो गयी।

इस तरह क्रान्तिकारी संघर्ष के दौरान अपने प्राणों की बाजी लगाने वाली शक्तियों, मेहनतकश जनता तथा अन्य

प्रगतिशील ताकतों के हाथ कुछ भी नहीं आया। पूरी दुनिया में अपनी तरह का अनोखा, पारदर्शी तथा महिलाओं, दलितों और जनजातियों को उचित प्रतिनिधित्व देने वाली संविधान सभा अपना उद्देश्य पूरा किये बगैर, एक प्रगतिशील, जनवादी, गणतंत्रात्मक संविधान बनाये बिना ही भंग हो गयी।

संविधान सभा के चुनाव का उद्देश्य क्या था?

संविधान और लोकतंत्र आधुनिक दुनिया की देन है। सामंतवाद के खिलाफ लड़ाई में संविधान और लोकतंत्र का जन्म हुआ। इसके पहले राजा ही सब कुछ था। उस समय राज्य, राजा के लिए और राजा द्वारा संचालित होता था। शासन की सारी शक्तियाँ सामंत/राजा में ही निहित हुआ करती थी, क्योंकि उत्पादन के साधनों के मालिक वही थे। उत्पादन के साधनों से वंचित आम जनता का शोषण-उत्पीड़न उस युग में अपने चरम पर था। वे सभी अधिकारों से वंचित थे। सामंती प्रथा के खिलाफ उनके मन में भारी असंतोष था जो बढ़ता ही गया और बगावत तक जा पहुँचा। कहीं राजा का सर काटा गया तो कहीं उसके किले की ईंट से ईंट बजायी गयी। जब जनता ने बगावत का बिगुल बजाया, तब सामंती शासन प्रणाली की जगह एक नये प्रकार के शासन-प्रणाली का जन्म हुआ। यह शासन प्रणाली लोकतांत्रिक शासन प्रणाली थी, प्रतिनिधि मूलक शासन प्रणाली थी। "राजा में निहित शक्तियों" को, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में बाँट दिया गया। सैद्धांतिक रूप से तो स्वीकार किया गया कि इस लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में शक्तियों का स्रोत अंतिम तौर पर जनता में निहित होगा, लेकिन व्यावहारिक तौर पर संविधान को जनता से ऊपर माना जाने लगा।

व्यवस्था परिवर्तन कि प्रत्येक लड़ाई में "नये संविधान" की माँग प्रमुखता से उठायी जाती है, ताकि शासन-प्रणाली को नए तरीके से संगठित किया जा सके और राज्यसत्ता पर कब्जा करके उस पर अपनी पकड़ और पुख्ता की जा सके। क्योंकि उत्पादन के साधनों पर मालिकाने का सवाल राज्यसत्ता पर कब्जा करके ही हल किया जा सकता है।

यही संघर्ष नेपाल में भी चल रहा है। माओवादी पार्टी ने 1990 में जारी “संवैधानिक राजतन्त्र वाले सीमित संविधान” की जगह एक नये “गणतांत्रिक संविधान” की माँग इसीलिए उठाई थी ताकि राज्यसत्ता को क्रांतिकारियों के हाथों में केंद्रित किया जा सके और उत्पादन के साधनों पर जनता के मालिकाने को सुनिश्चित किया जा सके। राजा की जगह जनता को नेपाल का नया “शासक” बनाया जा सके ताकि सामंती/कुलीनों की जगह खल्के-खुदा को मसनद पर बिठाया जा सके। संविधान का निर्माण इसीलिए किया जाना था। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। संविधान सभा “नया संविधान” बनाये बिना ही काल-कवलित हो गयी।

क्यों हुआ संविधान सभा का विघटन?

अप्रैल, 1990 में शुरू हुए जनांदोलन के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये “संवैधानिक राजतन्त्र”, जिसमें सेना और शासन-प्रणाली सामंती-कुलीनों के हाथों में ही बनी रही और उत्पादन के साधनों (मुख्यतः जमीन के मालिकाने) पर सामंती कब्जा बरकरार रहा। इसको अस्वीकार करते हुए 1996 में जब माओवादियों ने जनयुद्ध की शुरुआत की तब उनका मुख्य उद्देश्य नेपाल को एक गणतांत्रिक देश बनाना था, जो राज्यसत्ता को सामंती-कुलीनों के हाथों से छीन कर जनता के हाथों में सौंपता और क्रांतिकारी भूमि-सुधार करके उत्पादन के साधन (जमीन को) सामंतों/जमींदारों के हाथों से छीन कर जनता को उसका मालिक बनाता। माओवादी पार्टी और क्रांतिकारी जनता ने दस वर्षीय जनयुद्ध के दौरान इसी उद्देश्य को सामने रखा। स्थानीय स्तर पर “समानांतर सत्ताएँ” खड़ी करनी शुरू की तथा अपने प्रभाव क्षेत्रों में जमीन का क्रांतिकारी ढंग से बँटवारा शुरू कर दिया। इस तरह “नये नेपाल” का उदय शुरू हुआ। हजारों-लाखों की संख्या में स्त्री-पुरुष, जवान-बूढ़े-बच्चे इस “नये नेपाल” के निर्माण में जुट गये। दुनिया भर के क्रांतिकारी उम्मीद और उत्साह से “नये नेपाल” के इस सृजन कर्म को निहार रहे थे और प्रेरणा भी ग्रहण कर रहे थे। नेपाल का लगभग 80 प्रतिशत ग्रामीण इलाका क्रांति के असर में आ चुका था। 2005 में, नेपाल में जनयुद्ध का दमन करने के लिए “आपातकाल” लागू किये जाने के बाद जिस तरह से माओवादी पार्टी ने जनता का नेतृत्व किया, उससे नेपाली क्रांति की “मंजिल” तक पहुँचने कि उम्मीदें बलवती होने लगी थीं। लेकिन इसी बीच, माओवादी पार्टी ने कुछ ऐसी कार्यवाइयों की और कुछ ऐसी धारणाएँ पेश की जिससे दुनिया भर के क्रांतिकारी संशय से ग्रस्त हो गये।

एक तरफ अप्रैल 2006 में, जब काठमांडू और राजा के महल को लाखों नेपाली जनता ने घेर रखा था और राजतंत्र का खात्मा हुआ ही जान पड़ता था, राजा को बाध्य होकर संसद बहाल करना पड़ा था और आपातकाल वापस लेना पड़ा था, तब राजमहल, राजतंत्र और राजा बचा रह गया, उसे निर्मूल नहीं किया जा सका। माओवादी पार्टी की सूझ-बूझ और सोच, जो 2005 में सात पार्टियों के साथ शांति-समझौते के समय ही संशय के घेरे में आ चुकी थी, और अधिक संशय के घेरे में आ गयी। देश-विदेश के अंक-2 (जून 2006) जो 2006 के अप्रैल जन उभार के दो महीने बाद प्रकाशित हुआ था, हमने कहा था, “दस साल पहले सच्चे लोकतंत्र के जो बीज बोये गये थे, कालान्तर में उनके अंकुर फूटे, विरवा बना और कोपलें निकलीं। अब यह एक छोटा सा छायादार वृक्ष बन चुका है, जो फल देगा। फल देगा या नहीं यह इस बात पर निर्भर करता है कि वहाँ के माओवादी क्रांतिकारी कितनी सूझ-बूझ का परिचय देते हैं।” क्या माओवादियों ने इस बीच सूझ-बूझ का परिचय दिया? 2005 से अब तक बीते 7 वर्ष और अप्रैल 2006 के जन उभार से बीते 6 वर्ष का समय इस बात के पर्याप्त सबूत दे देते हैं। माओवादी पार्टी न सिर्फ अपनी सूझ-बूझ की दिशा सही नहीं रख सकी, बल्कि लोकतंत्र और संविधान सभा तथा संविधान के वर्गेतर अवधारणा की भी शिकार हुई। नतीजा यह हुआ कि 2006 में जिस माओवादी पार्टी को नेपाल अपनी राजधानी में विजेता की तरह स्वागत कर रहा था, आज उसी नेपाल में माओवादी पार्टी देश और संविधान सभा में हाशिए पर धकेल दी गयी है। जो प्रतिक्रियावादी पार्टियाँ 2006 में जनता की नजरों में गुनाहगार थीं, आज शासन-सत्ता के ऊपर मजबूती से पकड़ बना चुकी हैं। इसीलिए माओवादी अपनी सद्विच्छा के बावजूद संविधान सभा से “नया संविधान” नहीं बनवा सके तथा उन्हें खुद उस संविधान सभा के भंग होने का साक्षी बनना पड़ा।

संविधान और संविधान सभा के प्रति माओवादी पार्टी की गलत सोच

माओवादी पार्टी के एक हिस्से में संविधान सभा को “पवित्र गाय” मानने की प्रवृत्ति दिखायी देती है और “संविधान” को “पवित्र गाय का सर्वगुण संपन्न पवित्र पंचगव्य”, जिसे हिंदू भ्रम में सभी बीमारियों की रामबाण औषधि बताया गया है। जिस संविधान सभा, में क्रांतिकारी पक्ष (?) बहुमत में भी नहीं

हो और जिसका नियम ही यही हो कि दो तिहाई मत के बाद ही संविधान बनाया जा सकता है, उस संविधान सभा से क्या किसी भी क्रान्तिकारी फैसले की उम्मीद की जानी चाहिए? जिस संविधान सभा के चुनाव से लेकर उसकी हर बैठकों में प्रतिक्रियावादी पार्टियों की ओर से अड़गे लगाये जाते रहे उस संविधान से माओवादी इतनी उम्मीदें क्यों पाले रहे? जाहिर है कि माओवादी जिन पार्टियों के साथ संविधान सभा में बैठे हैं और जिनके साथ गलबहियाँ डाल कर सरकार बनाते हैं, साझा मंत्रिमंडल गठित करते हैं और प्रधानमंत्री का पद पा लेते हैं, उन पार्टियों के वर्गीय चरित्र को, प्रतिक्रियावादी और यथास्थितिवादी चरित्र को न स्वीकारने की हद तक नजरअंदाज करते रहे हैं। जिन पार्टियों और उनकी सरकारों ने जनयुद्ध के दौरान दसियों हजार जनता और क्रांतिकारियों को मौत के घाट उतारा, उनके प्रति माओवादियों का मोह क्यों? क्या यह माओवादियों की गलत सोच नहीं है? इन्होंने तो संविधान सभा को ही “क्रान्ति” का स्थानापन्न बना दिया और अपने “क्रान्तिकारी” प्रयासों को “संविधान सभा का कार्यकाल आगे बढ़ाने” और “अपना प्रधानमंत्री” बनवाने के लिए जोड़-तोड़ तक सीमित कर दिया। माओवादियों ने खुद को यह सायास भूल जाने दिया कि आधार और अधिरचना के सभी हिस्सों पर बलात कब्जा और उसके क्रांतिकारी रूपांतरण के बगैर नेपाल में तो क्या, दुनिया के किसी भी समाज में गणतांत्रिक लोकतंत्र स्थापित ही नहीं किया जा सकता। एक पुर्जे को पूरी मशीन मान लिया गया, साधन को साध्य बना दिया गया। यह सब माओवादी पार्टी के नेतृत्व की वर्गतर सोच का परिणाम है, क्रांतिकारी सोच को तिलांजली देने का परिणाम है। हमने देश-विदेश अंक-2 में लिखा था, “क्या संविधान सभा की घोषणा या संविधान सभा के निर्माण से लोकतंत्र की स्थापना हो जायेगी? क्या सात पार्टियों के नेतागण शाही सेना के बल पर सच्चे लोकतंत्र की स्थापना कर सकेंगे? दरअसल, केन्द्रीय मुद्दा संविधान सभा की स्थापना नहीं है। संविधान सभा तो सच्चे लोकतंत्र का उपकरण मात्र बन सकती है। लेकिन उसकी स्थापना मात्र से लोकतंत्र कायम नहीं हो जायेगा। सच्चे लोकतंत्र का केन्द्रीय कार्यभार है क्रांतिकारी भूमि सुधार। एक ऐसा मुकम्मिल भूमि सुधार कार्यक्रम जो सब कुछ उलट-पलट कर देगा, ऊपर को नीचे और नीचे को ऊपर कर देगा, जो हलवाहे को हल और जमीन का मालिक बना देगा, जो तमाम परजीवियों और सामंतों को उसके साथ जुटे हुए तमाम तरह के तामझाम और संस्थाओं के साथ उखाड़ फेंकेगा और

एक नये समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करेगा।” हमने यह सवाल भी सामने रखा था कि यह काम होगा कैसे? क्या यह काम संविधान सभा और संसद में बैठे-बैठे, कानून बना कर किया जा सकेगा? नहीं!, “यह काम सच्चे अर्थों में तभी संपन्न होगा जब यह संघर्ष नेपाल के सुदूरवर्ती गाँवों तक में, हरेक गाँव में लड़ा जायेगा। फ्रांस की क्रान्ति से लेकर रूस, चीन, क्यूबा और दुनिया भर की सभी जन क्रांतियों का यही अनुभव है। इस कठिन काम को अंजाम देने के लिये न केवल एक जनसेना की, बल्कि मेहनतकशों के बीच से आये हुए लाखों कार्यकर्ताओं की भी जरूरत होगी।” तो माओवादी पार्टी ने गाँव-गाँव में लाखों कार्यकर्ताओं को तैयार करने के बजाय संविधान सभा में बैठकर बहस करना क्यों जरूरी समझा? वे जनसेना को भी विघटित करने के लिए क्यों तैयार हो गये?

नेपाली माओवादियों की एक अक्षम्य गलती, जिसने क्रांति के पराभव की शुरुआत की

माओवादी पार्टी ने, जनसेना को विघटित कर नेपाली शाही सेना में एकीकरण (विलयीकरण), समानांतर पैदा हुए भावी राजसत्ता के अंकुर को नष्ट करना और भूमि-सुधार के क्रांतिकारी कार्यक्रम से पीछे हटने का काम 22 नवंबर 2005 को सात पार्टियों के साथ हुए समझौते के दिन से ही शुरू कर दिया था। जनयुद्ध के दौरान नये नेपाली समाज के प्रतीक रूप में विकसित समानांतर सत्ताओं को विघटित करना और इस दौरान क्रांतिकारी भूमि सुधार के तहत कब्जा करके बाँटी गयी जमीनों को सामंतों को वापस करना शुरू कर दिया गया। आज नेपाली जन मुक्ति सेना विघटित हो चुकी है और उसके लड़ाकों को नेपाली सरकारी सेना (जिसका चरित्र अभी भी सामंती है) में विलीन कर दिया गया है तथा बाकी लोगों को चंद रुपये मुआवजा देकर व्यक्तिगत जीवन जीने के लिये घर वापस भेज दिया गया है। समानान्तर संस्थाओं का बिरवा माओवादी पार्टी के अपने ही पैरों से रौंदा जा चुका है और क्रांतिकारी ढंग से बाँटी गयी जमीनें प्रतिक्रियावादियों के कब्जे में वापस जा चुकी हैं। 1996 से 2006 के बीच नेपाली जनयुद्ध का जो भी सकारात्मक, प्रगतिशील और क्रांतिकारी पक्ष था वह दबाया जा चुका है। यह सब माओवादी पार्टी ने ‘21वीं सदी में क्रांतिकारी विचारधारा के विकास’ के नाम पर किया। इसने यह घोषणा की कि क्रान्ति के लिए अब जनमुक्ति सेना नहीं “प्रतिस्पर्धात्मक बहुदलीय लोकतंत्र” की जरूरत है और नये

समाज के निर्माण के लिए पुराने समाज के “आधार और अधिरचना” के अंग और उपांगों को बलात् नष्ट करने के बजाय उन्हें सुदृढ़ करने की जरूरत है। यह सोच पेरिस कम्यून ने निकले जरूरी सैद्धान्तिक निष्कर्षों को तिलांजली देना है। यह साबित करता है कि माओवादी पार्टी की सोच वर्गीय सीमाओं से परे चली गयी है तथा राज्य के वर्गीय चरित्र के बजाय उसे वगेत्तर मान लिया गया है।

क्या नेपाली क्रान्ति विघटित हो चुकी है?

संविधान सभा का विघटन नेपाली समाज में मौजूदा वर्ग शक्ति संतुलन का ही प्रतिबिम्बन है, ठीक वैसे ही जैसे संविधान सभा का चुनाव तत्कालीन नेपाल को धर्मनिरपेक्ष घोषित करना तथा राजशाही को समाप्त करना, नेपाली समाज के उस समय के वर्ग शक्ति संतुलन का परिणाम था। तब 2006 में नेपाल के क्रान्तिकारी, क्रान्तिकारी जनता और क्रान्ति समर्थक ताकतें काफी मजबूत थीं और नेपाली समाज का वर्ग-शक्ति संतुलन उनके पक्ष में था। उस दौरान प्रतिक्रान्तिकारी, सामंती ताकतों का आत्मविश्वास और उनकी ताकत रसातल में जा चुकी थी। लेकिन आज परिस्थिति बदल चुकी है। आज वर्ग शक्ति संतुलन प्रतिक्रान्तिकारियों के पक्ष में झुक गया है।

नेपाली क्रान्ति, क्रान्तिकारी ताकतों और क्रान्तिकारी जनता के पास आज न तो अपनी जन मुक्ति सेना ही बची है और न ही अब उनकी क्रान्तिकारी पार्टी ही पहले जैसी मजबूत स्थिति में है। 19 जून, 2012 को उनकी क्रान्तिकारी पार्टी का भी विघटन हो गया। जनयुद्ध के दौरान नेपाली क्रान्ति का नेतृत्व करने वाली क्रान्तिकारी पार्टी पहले तो अपनी सोच और कार्यशैली में क्रान्ति से और नेपाली मेहनतकश जनता से दूर होती चली गयी और दूसरे, आज वह भी दो हिस्सों में बँट गयी है। नेपाली क्रान्ति आज अपने सबसे गम्भीर संकट में फँसी है।

कोई नहीं जानता कि नेपाली क्रान्ति को उसकी क्रान्तिकारी पार्टी की गलतियाँ कहाँ ले जायेंगी? लेकिन इतना तो तय है कि मजबूत होते प्रतिक्रियावादियों और सामंती तत्त्वों की वजह से नेपाली जनता और नेपाली क्रान्ति के सामने बहुत बड़ी चुनौती आ खड़ी हुई है और अब क्रान्ति को नये सिरे से पुनर्संगठित करना, क्रान्ति को नये सिरे से शुरू करने से भी कहीं अधिक चुनौतीपूर्ण होगा। नेपाली क्रान्तिकारियों के उस धड़े को, जो क्रान्तिकारी होने का दावा कर रहा है, नेपाली क्रान्ति में आये उतार का सार-संकलन काफी निर्ममता से करना होगा

तथा साथ ही विश्व क्रान्ति के अनुभवों को ध्यान में रखकर एक नयी रणनीति और रणकौशल का विकास करना होगा। उन्हें वर्गीय समाज की हकीकत से रू-ब-रू होकर (क्योंकि 2006 से अब तक वर्गीय हकीकत से आँख चुराने का ही काम किया गया) “नये नेपाल” के निर्माण के लिए फिर से नयी समानांतर संस्थाओं का निर्माण करना होगा। गाँव-गाँव में क्रान्तिकारी कमेटियाँ बनानी होंगी, क्रान्ति विरोधियों का जनता के बीच पर्दाफाश करना होगा और क्रान्ति को धरातल पर उतारने के लिये क्रान्तिकारी भूमि सुधार के कार्यक्रम को जोर-शोर से चलाना होगा।

नेपाली क्रान्ति की यादें भी अभी ताजा हैं। क्रान्तिकारियों के एक हिस्से के विपथगामी हुए अभी ज्यादा समय नहीं बीता है। उम्मीद की जाय कि नेपाल की क्रान्तिकारी जनता अपनी क्रान्तिकारी पार्टी को अपने से दूर नहीं जाने देगी, अपनी पार्टी को नये सिरे से पुनर्संगठित करेगी। उसके नेतृत्व में क्रान्ति की आत्मगत कमजोरियों से लड़ते हुए नेपाल को इण्डोनेशिय, निकारागुआ और पेरू बनने से रोक लेगी और “नये नेपाल-एक क्रान्तिकारी नेपाल” के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करेगी।

(यह लेख संविधान सभा के विघटन की घटनाओं पर केन्द्रित है। नेपाली माओवादी पार्टी में हुए विभाजन के वैचारिक पहलू को इस छोटे से लेख में समेट पाना सम्भव नहीं है।) □

“किसी भी चीज पर विश्वास मत करो
सिर्फ इसलिये क्योंकि वह तुम्हें बतायी गयी है
या इसलिये कि वह पारम्परिक है
या इसलिये क्योंकि तुमने उसकी कल्पना की है
अपने अध्यापक की बात पर विश्वास मत करो
सिर्फ उसका सम्मान करने के लिये
परन्तु सम्यक निरीक्षण और विश्लेषण के पश्चात
सभी के हित लाभ
और कल्याण के लिये
तुम्हें जो अच्छा लगे
उस मत पर विश्वास करो, उस पर बने रहो
और उसे ही अपना मार्गदर्शक मानो”

-गौतम बुद्ध

मिस्र में राजनीतिक इस्लाम की जीत के मायने

-सामीर अमीन

(30 जून को मिस्र में मुस्लिम ब्रदरहुड के नेता मोहम्मद मोरसी ने उसी तहरीर चौक पर राष्ट्रपति पद की शपथ ली, जहाँ से होस्नी मुबारक की निरंकुश सत्ता के खिलाफ वहाँ के लाखों लोगों ने अपनी आवाज बुलंद की थी। लोकतंत्र, न्याय और समता की यह लड़ाई अभी भी जारी है, क्योंकि जिस लक्ष्य को लेकर मिस्र का अवाम उठ खड़ा हुआ था, उसे अमरीका, इजराइल और उनके पिट्टू अरब शासकों ने अपनी साजिशों का शिकार बना दिया। यही कारण है कि आज भी तहरीर चौक प्रतिरोध का झंडाकेंद्र बना हुआ है। प्रस्तुत है, मिस्र की ताजा घटनाओं पर वहाँ के एक विश्वविख्यात अर्धशास्त्री सामीर अमीन की यह टिप्पणी।)

मिस्र के चुनाव (जनवरी 2012) में मुस्लिम ब्रदरहुड और सलाफपंथियों की जीत कोई चौंकाने वाली बात नहीं। पूँजी के मौजूदा वैश्वीकरण ने जिस आर्थिक पतन को जन्म दिया है, उसके चलते वहाँ तथाकथित “अनौपचारिक” गतिविधियों में बेशुमार बढ़ोत्तरी हुई है। मिस्र की आधी से भी अधिक आबादी (ऑकड़ों के अनुसार 60 प्रतिशत जनता) इसी अनौपचारिक क्षेत्र से अपनी जीविका चलाती है।

मुस्लिम ब्रदरहुड इस पतन का लाभ उठाने और अपनी तादाद बढ़ाने के लिहाज से वहाँ काफी बेहतर हालत में रही है। उनकी एकतरफा विचारधारा उस दुखद बाजार अर्थव्यवस्था को उचित ठहराती है जो किसी भी तरह के विकास की जरूरतों के पूरी तरह खिलाफ है। मुस्लिम ब्रदरहुड की गतिविधियों द्वारा, जैसे अनौपचारिक क्षेत्र को आर्थिक सहायता, परोपकारी सेवाओं, अस्पताल, इत्यादि के लिए भारी मात्रा में वित्तीय साधन मुहैया किया गया।

इस तरह से ब्रदरहुड ने समाज के दिल में जगह बनायी और लोगों को अपने ऊपर निर्भर बनाया। खाड़ी देशों की मंशा कभी यह नहीं रही कि अरब देशों के विकास को बढ़ावा दें, मसलन वहाँ के उद्योग में पूँजी लगायें। वे अद्वि गुंदर फ्रांक के शब्दों में एक तरह के “लम्पट विकास” की मदद करते हैं, जो सम्बंधित समाजों को कंगाली और वंचना के मकड़जाल में पूरी तरह फँसा लेता है, जिसके चलते उन समाजों के ऊपर प्रतिक्रियावादी राजनीतिक इस्लाम के शिकंजे को और मजबूती से कसने में उन्हें आसानी होती है।

इसे इतनी आसानी से कामयाबी नहीं मिल पाती, अगर यह अमरीका, इजराइल और खाड़ी देशों की सरकारों के उद्देश्यों से पूरी तरह मेल नहीं खा रहा होता। इन तीनों करीबी सहयोगियों की चिंता

एक ही है- मिस्र की स्थिति में सुधार न होने देना। एक मजबूत, स्वाभिमानी मिस्र का मतलब खाड़ी देशों (समाज के इस्लामीकरण के आगे पूरी तरह समर्पण), अमरीका (एक ताबेदार और कंगाल मिस्र ही उसके प्रत्यक्ष प्रभाव के अधीन रहेगा) और इजराइल (एक शक्तिहीन मिस्र फिलिस्तीन में दखल नहीं देगा) के तिहरे दबदबे का अंत होगा।

सादात के शासन काल में मिस्र के शासकों ने अचानक और पूरी तरह से नव-उदारवाद का समर्थन और वाशिंगटन के आगे समर्पण कर दिया था, जबकि अल्जीरिया और सीरिया ने यह काम धीरे-धीरे और संयत तरीके से किया था। मुस्लिम ब्रदरहुड जो शासन तंत्र का अंग है, उसे महज एक “इस्लामिक पार्टी” नहीं माना जा सकता, बल्कि सबसे पहले और सबसे बढ़चढ़ कर यह एक अत्यंत प्रतिक्रियावादी पार्टी है जो साथ के साथ इस्लामपंथी भी है। यह केवल “सामाजिक मुद्दों” (हिजाब, शरिया, दूसरे धर्मों से दुश्मनी इत्यादि) के मामले में ही नहीं, बल्कि आर्थिक-सामाजिक जीवन के बुनियादी मामलों में भी उसी हद तक प्रतिक्रियावादी है ब्रदरहुड हड़तालें, मजदूरों की माँगों, मजदूरों के स्वतन्त्र यूनियनों, किसानों की बेदखली के खिलाफ प्रतिरोध आंदोलन, इत्यादि का विरोधी है।

इस तरह “मिस्र की क्रांति” की योजनाबद्ध असफलता उस व्यवस्था को जारी रखने की गारंटी करेगा जिसे वहाँ सादात के दौर से ही कायम किया जाता रहा, जो सेना के उच्च अधिकारियों और राजनीतिक इस्लाम के गठजोड़ पर आधारित थी। निश्चय ही, ब्रदरहुड अपनी चुनावी जीत के दम पर अब उससे कहीं ज्यादा अधिकार की माँग करने में सक्षम है, जितना सेना ने उसे अब तक सौंपा था। हालाँकि इस गठजोड़ के फायदों का ब्रदरहुड के हक में बँटवारा करना कठिन साबित हो सकता है।

24 मई को राष्ट्रपति चुनाव का पहला चक्र इस तरीके से संगठित किया गया था कि मिस्र की सत्ता पर काबिज लोगों और वाशिंगटन, दोनों के मनमाफिक उद्देश्यों को हासिल किया जा सके, यानी व्यवस्था के दो स्तंभों सेना के उच्च अधिकारी और मुस्लिम ब्रदरहुड के गठजोड़ को और मजबूत बनाया जाय तथा उनके बीच के मतभेदों को सुलझाया जाय (कि उनमें से कौन अगली कतार में रहेगा)। इस मकसद से जो दो उम्मीदवार “स्वीकार्य” थे, सिर्फ उन्हें ही पर्याप्त साधन हासिल हुए जिनके बूते वे अपना प्रचार अभियान चला सकें। मोरसी (ब्रदरहुड- 24 प्रतिशत) और शफीक

(सेना- 23 प्रतिशत)। जनान्दोलन के असली उम्मीदवार एच सब्बाही, जिन्हें सामान्य रूप से मंजूर की गयी सुविधाएँ भी हासिल नहीं हुईं, उन्हें कथित रूप से केवल 21 प्रतिशत वोट मिले (यह आँकड़ा संदेहास्पद है)।

लंबे समय तक चले समझौता वार्ताओं के अंत में इस बात पर सहमति बनी कि मोरसी ही दूसरे चक्र के विजेता हैं। राष्ट्रपति की तरह ही संसद का चुनाव भी इस्लामपंथियों को वोट देने वालों के घर बड़े-बड़े गट्टर (मांस, तेल और चीनी) पहुँचाने के जरिये ही हो पाया। और फिर भी, “विदेशी पर्यवेक्षक” उस परिस्थिति को देख ही नहीं पाये, जिसका मिश्र में खुले-आम मजाक उड़ाया गया। सेना ने संसद भंग करने में देरी की, जो दरअसल ब्रदरहुड को पर्याप्त

समय देना चाहती थी, ताकि वह रोजगार, तनखाह, स्कूल और स्वास्थ्य जैसे सामाजिक मुद्दे उठाने से इन्कार करके खुद बदनामी मोल ले।

मोरसी की “अध्यक्षता” वाली मौजूदा व्यवस्था इस बात की बेहतरीन गारंटी है कि लम्पट विकास और राज्य की संस्थाओं के विध्वंस के जिस लक्ष्य को अमरीका लगातार बढ़ावा दे रहा था, वह जारी रहेगा। हम देखेंगे कि क्रान्तिकारी आन्दोलन जो आज भी लोकतंत्र, सामाजिक प्रगति और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष के प्रति पूरी तरह वचनबद्ध है, इस चुनावी स्वांग के बाद किस तरह आगे बढ़ता है।

(मंथली रिव्यू से साभार)

□

पावर ग्रिड ठप्प या कल्पनाशीलता का लोप

-एम जी देवसहायम

मंगलवार को दोपहर एक बजे एक-के-बाद एक तीन ग्रिड फेल होने के कारण इतिहास का सबसे बड़ा बिजली संकट आया जिसने 60 करोड़ लोगों को अपनी चपेट में ले लिया।

राष्ट्रीय पावर ग्रिड एक छोर पर ट्रांसमिसन लाइनों और विद्युत उत्पादन केन्द्रों से जुड़े सब-स्टेशनों और दूसरे छोर पर लोड केन्द्रों (या वितरण कम्पनियों) का आपस में गुथा हुआ जाल है. उत्पादन केन्द्र ट्रांसमिसन लाइनों के जरिये ग्रिड को बिजली भेजते हैं। लोड केन्द्र इन लाइनों से बिजली लेकर अंतिम छोर पर मौजूद उपभोक्ताओं को देते हैं।

बिजली कि आपूर्ति में अवरोध न हो, इसके लिए उत्पादन और खपत के बीच हमेशा एक नाजुक संतुलन बनाये रखना जरूरी होता है।

भारत में पाँच बिजली ग्रिड हैं- उत्तरी, पूर्वी, उत्तरपूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी। सरकारी कम्पनी पावर ग्रिड कार्पोरेशन, जो हजार किलोमीटर से भी ज्यादा ट्रांसमिसन लाइनों का संचालन करती है, इन ग्रिडों का संचालन करती है। इन पाँच ग्रिडों में तीन ग्रिड-उत्तरी, पूर्वी और उत्तरपूर्वी मंगलवार को बैठ गये।

कोई ग्रिड तभी फेल होता है जब इससे जुड़े राज्य या तो इसकी क्षमता से ज्यादा बिजली निकासी करने लगते हैं या उत्पादन केन्द्र से बहुत ज्यादा बिजली आने लगती है। ग्रिड फेल होने का इससे कोई लेना-देना नहीं होता कि बिजली उत्पादन की स्थापित क्षमता या इसकी मात्रा कितनी है।

क्षमता से ज्यादा बिजली निकासी का मतलब यह है कि एक दिन पहले ग्रिड आपरेटर को जो रिपोर्ट दी जाती है, जिसमें उस दिन बिजली का कितना उपभोग होना है इसका हर 15 मिनट का ब्यौरा होता है, उसमें बताई गयी क्षमता से ज्यादा

बिजली की निकासी करना। केंद्रीय विद्युत नियामक आयोग हर राज्य के लिये बिजली निकासी की सीमा तय करता है, जो राज्यों और उत्पादक कम्पनियों के बीच हुए समझौते पर आधारित होता है।

ग्रिड फेल होने की मुख्य जिम्मेदारी पावर ग्रिड कार्पोरेशन और नेशनल लोड डिस्पैच सेंटर की होती है और यह विभिन्न उत्पादन, ट्रांसमिशन और वितरण कम्पनियों की भी साझा जिम्मेदारी होती है।

इसका मूल कारण बिजली से सम्बन्धित विभिन्न संस्थाओं में फैली सड़ांध है जिनके पास प्रबंधन का कोई दर्शन नहीं है और जो वितरण और विभाजन की कार्यकुशलता को बिलकुल महत्त्व नहीं देते। वे केवल अधिक से अधिक विद्युत उत्पादन का राग अलापते रहते हैं और वह भी केंद्रीकृत, क्योंकि उसमें भारी पूँजी निवेश होता है तथा घूसखोरी और भ्रष्टाचार की भरपूर गुन्जाइश होती है।

बिजली विहीन भारत ‘अंधा युग’ में प्रवेश कर रहा है। इसका एकमात्र समाधान है एक समग्र दृष्टिकोण अपनाना। इसमें विकेंद्रित रूप से अलग-अलग जगहों पर उत्पादन करना (ग्रिड से इतर अक्षय ऊर्जा स्रोतों पर निर्भरता), वितरण और विभाजन का आधुनिकीकरण, माँग पक्ष का प्रबंधन और अंतिम उपभोक्ता तक पहुँचाने में कार्यकुशलता, सब शामिल है। बिजली उपभोग के मामले में प्रबन्ध संस्कृति के प्रतिमान में भी बदलाव लाना जरूरी है।

(लेखक सेवानिवृत्त भारतीय प्रशासनिक अधिकारी और हरियाणा राज्य विद्युत बोर्ड के पूर्व प्रमुख हैं। अनुवाद- सतीश)

□

क्यों बढ़ती हैं सिर्फ खाने-पीने जैसे जरूरी सामानों की कीमतें?

-अश्विनी कुमार

एक तरफ जहाँ खाद्य पदार्थों की कीमतों में आग लगी हुई हो तो उसी आग में घी डालने का काम तब होता है, जब सरकार द्वारा खरीदे गये अनाज को सरकारी खाद्य एजेंसियों खुले में सड़ने के लिए छोड़ दें। राष्ट्रमंडल जैसे 'राष्ट्रीय गरिमा' के आयोजनों एवं तथाकथित राष्ट्रोद्धार करने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए रेड कार्पेट बिछाने में व्यस्त हमारी 'जन कल्याणकारी' सरकार को उस सड़ते अनाज की सुध लेने की फुर्सत भी ना हो। हद तो तब होती है जब सर्वोच्च न्यायालय की फटकार के बाद भी सरकार पूरी अडिगता के साथ कह दे कि अनाज खुले में सड़ते हों तो सड़ें, इसे सस्ते दामों पर गरीबों को उपलब्ध नहीं कराया जा सकता। अब खाद्य सुरक्षा बिल का शिगूफा छोड़ा गया है, जिसके तहत गरीबों को सस्ता अनाज उपलब्ध कराने की वकालत राष्ट्रीय विकास परिषद की अध्यक्षता कर रही हैं, जबकि खाद्य मंत्री उसका विरोध कर रहे हैं। लेकिन खाद्य पदार्थों की कीमतें बढ़ी ही क्यों, इसकी कोई चर्चा नहीं हो रही है। खाद्य पदार्थों की उत्पादन-लागत कैसे कम हो सकती है, इस पर भी कहीं कोई विचार नहीं हुआ। बहरहाल, खाद्य सुरक्षा को किसानों की जीवन-सुरक्षा से जोड़ा जायेगा या आम गरीब जनता को इसके तहत सड़ा हुआ अनाज मिलेगा, यह प्रश्न अभी शेष है। वैसे भी अच्छी गुणवत्ता वाला अनाज तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के गोदामों में जमा है, जो मेहनतकश गरीबों के लिए नहीं, चंद अमीरों के लिये है।

आज कल खाद्य फसलों की अपेक्षा बायो-डीजल उत्पन्न करने वाली फसलों के उत्पादन पर जोर दिया जा रहा है और खाद्य वस्तुओं की बढ़ती कीमतों का ठीकरा दक्षिण एशिया के देशों पर फोड़ा जा रहा है। कहा जा रहा है कि दक्षिण एशिया के लोगों ने आय बढ़ने पर अधिक खाना शुरू कर दिया, इसलिए दुनिया में अनाज की कमी हो गयी है। यह पूरी तरह बेतुकी बात है क्योंकि दक्षिण एशिया में प्रति व्यक्ति अनाजों एवं दालों की खपत कम हुई है न की बढ़ी है।

जब से भारत सरकार ने 'कल्याणकारी' होने का चोला बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के दबाव में उतार फेंका है, तब से अति जरूरी पदार्थों और सेवाओं, जैसे आटा-दाल, डीजल-पेट्रोल, शिक्षा-स्वास्थ्य आदि के दाम लगातार बढ़ रहे हैं जबकि आरामदायक यानी विलासिता की वस्तुओं जैसे टेलीविजन, फ्रिज, एसी, कार आदि के दामों में कोई विशेष बदलाव नहीं हुआ है।

मारुति 800 के दाम में पिछले 20 सालों में हुई वृद्धि तथा इस दौरान आटा-दाल की कीमत में हुई वृद्धि की तुलना कर पाठक स्वयं पता कर सकते हैं कि किसमें कितना परिवर्तन हुआ है। इसी तरह अन्य वस्तुओं की कीमतों की तुलना भी की जा सकती है।

सरकार की भूमंडलीकरण और उदारीकरण की नीतियों की वजह से आरामदायक और विलासिता की वस्तुओं की कीमतें कमोबेश स्थिर रखने में कम्पनियाँ सफल रही हैं, जबकि जीने के लिए अति आवश्यक वस्तुओं की कीमतों को बाजार की शक्तियों की गिरफ्त में छोड़ दिया गया है। कृषि क्षेत्र से तो सरकार ने पूरी तरह मुँह मोड़ लिया है। फलस्वरूप पिछली तीन योजनाओं में कृषि क्षेत्र में वृद्धि दर कम है तथा कृषि-उत्पादन में लागत बढ़ती जा रही है। सरकार किसानों को कोई प्रोत्साहन भी प्रदान नहीं कर रही। असल मुद्दा अब कृषि उत्पादों की सट्टेबाजी हो गयी है जिसका फायदा सिर्फ पूँजीपतियों को हो रहा है।

कृषि क्षेत्र के प्रति सरकार के उदासीन रवैये का सबसे नायाब उदाहरण 2011-12 का बजट है, जिसमें वित्तमंत्री ने सिंचाई क्षेत्र के विस्तार के लिए कोई विशेष कदम नहीं उठाया जबकि देश का 60 फीसदी कृषि क्षेत्र अभी भी सिंचाई सुविधा से वंचित है। वित्तमंत्री ने तो यहाँ तक कह दिया कि किसानों को अब इंद्रदेव की आराधना करनी चाहिए।

कर्ज में डूबा हुआ किसान अपने उत्पाद यानी खाद्य पदार्थों को औने-पौने दामों पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को बेचने पर मजबूर है। किसानों को इतनी भी आय नहीं हो पाती कि वे अपनी लागत की भरपायी कर पायें। किसान कर्ज के जाल में फँस कर लगातार आत्महत्या कर रहे हैं और सरकार को फिक्र है तो सिर्फ बहुराष्ट्रीय निगमों की। सरकार की सोच है कि कहीं निवेश-प्रोत्साहन नहीं मिलने पर वे देश छोड़ कर चले न जायें।

किसानों से औने-पौने दामों पर खरीदे गये अनाज की कीमतें देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हाथ लगते ऐसे बढ़ती हैं जैसे मोटर गाड़ी गाँवों के ऊबड़-खाबड़ रास्तों से निकल कर शहर की सड़कों पर सरपट दौड़ती है। कभी दूध, कभी दाल, कभी प्याज, हर खाद्य पदार्थ को कभी सड़ाने, कभी निर्यात के बहाने और कृषि उत्पाद को उचित प्रोत्साहन प्रदान न कर उनका कृत्रिम अभाव पैदा किया जाता है। फिर बाजार की बेलगाम शक्तियाँ बढ़ी कीमतों के माध्यम से आम जनता को जमकर लूटती हैं। तेल कम्पनियों को पेट्रोलियम पदार्थों का मूल्य हर छः महीने पर बढ़ाने की इजाजत देना सरकार अपना नैतिक दायित्व समझती है। जब से खाद्य पदार्थों के व्यवसाय में आईटीसी और रिलायंस जैसी दैत्याकार कम्पनियाँ आयी हैं और फ्यूचर ट्रेडिंग (वायदा कारोबार) के नाम पर खाद्य पदार्थों की सट्टेबाजी को खुली छूट मिली है, लाखों टन खाद्य पदार्थ किस सुरसा के मुँह में समा जाते हैं, पता भी नहीं चलता।

साथ ही, अनाज का सस्ते में निर्यात तथा महँगा होने पर

आयात जैसे शांतिराना कदम उठाये जाते हैं जिसमें मंत्री स्तर पर जमकर कमीशनखोरी की जाती है।

जरूरी खाद्य पदार्थों की बढ़ती कीमतों के लिए न तो दक्षिण एशिया के गरीब लोगों की बढ़ती हुई आय जिम्मेवार है और न ही संसाधनों की कमी। हाँ, संसाधनों का अन्यायपूर्ण असमान बँटवारा जरूर जिम्मेदार है।

जरूरी खाद्य पदार्थों की बढ़ती हुई कीमतों का असली कारण बड़े-बड़े देशी-विदेशी पूँजीपतियों की आय और मुनाफा बढ़ाने के लिये अर्थव्यवस्था पर एकाधिकार स्थापित करने की उनकी नीति है। महँगाई इसी वर्ग की पाली-पोसी हुई डायन है। सतही तौर पर भले ही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था प्रतियोगिता के सिद्धांत पर कार्य करती दिखाई पड़ती हो, पर गहराई में उतरने पर हकीकत कुछ और ही नजर आती है। प्रतियोगिता का सिद्धांत तो सिर्फ छोटे व्यापारियों पर ही लागू होता है, जिन्हें बड़े देशी-विदेशी पूँजीपतियों यानी बड़ी दैत्याकारी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से मुकाबला करना पड़ता है। मतलब स्पष्ट है कि एक दुबले-पतले कमजोर आदमी का मुकाबला सूमो पहलवान से हो! इन बड़े दैत्याकार बहुराष्ट्रीय निगमों का सशक्त और संगठित 'कार्टेल' है जिनकी सीधी पहुँच विश्व बैंक और मुद्रा कोष तक है। अपने धन बल एवं एकाधिकारी शक्ति के जोर पर ये भारत जैसे देशों की सरकारों को अपने वश में रखती हैं। इन कम्पनियों के बजट में भी मंत्रियों एवं उच्चाधिकारियों को प्रभावित करने के लिए विशेष प्रावधान रहता है।

1950 के बाद विश्व अर्थव्यवस्था में उभरी अल्पतंत्री पूँजीवाद की प्रवृत्ति ने एक संगठित 'कार्टेल' का रूप धारण कर लिया और इसने दुनिया के बाजारों में वस्तुओं की कीमत का निर्धारण करना शुरू कर दिया। इनके वर्चस्व का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि विश्व अर्थव्यवस्था के 80 प्रतिशत हिस्से पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष तौर पर महज 200 बहुराष्ट्रीय निगमों का नियंत्रण है। सिर्फ 200 बहुराष्ट्रीय निगम प्रत्यक्ष तौर पर 7.1 ट्रिलियन डॉलर के उत्पादन को नियंत्रित करते हैं जो दुनिया के शीर्ष नौ देशों की अर्थव्यवस्थाओं को छोड़ कर शेष 182 देशों के कुल सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) 6.9 ट्रिलियन डॉलर से भी अधिक है। ये आँकड़े 1998 के हैं, अब तो स्थिति और भी भयावह हो चुकी है। अल्पतंत्री पूँजीवाद की इस प्रवृत्ति ने 1980 के दशक के आरम्भ से ही उदारीकरण की नीतियों के रूप में भारत में अपने पाँव पसारना शुरू कर दिया था। आज देशी औद्योगिक घरानों तथा नये उभरते उच्च मध्यम वर्ग का हित भी इन बहुराष्ट्रीय निगमों से जुड़ गया है, पर पिस तो रही है देश की 85 प्रतिशत आबादी जिसके हाथ से रोजगार के अवसर छिनते ही चले जा रहे हैं, उसे महँगाई की भी जबरदस्त मार झेलनी पड़ रही है। कृषि क्षेत्र की विकास दर भी लगातार कम होती जा रही है। सिर्फ कृषि ही नहीं, कृषि के बाद सर्वाधिक रोजगार जुटाने वाली कुटीर एवं लघु औद्योगिक

इकाइयाँ भी इस मार से दम तोड़ती जा रही हैं। इस विश्लेषण से इतना तो स्पष्ट है कि विश्व और देशी, दोनों बाजारों पर चंद पूँजीपतियों का राज है।

अब प्रश्न उठता है कि संगठित कार्टेल का फायदा जरूरी पदार्थों की कीमतों को बढ़ाने तथा गैरजरूरी पदार्थों की कीमतों को कम अथवा स्थिर रखने में कैसे है। पूँजीवादी व्यवस्था में वस्तु व सेवाओं की कीमत माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा तय की जाती है। पूर्ति पर जहाँ पूँजीपतियों का नियंत्रण होता है, वहीं माँग उपभोक्ता की क्रय-शक्ति पर निर्भर करती है। यदि उपभोक्ता अपनी माँग को नियंत्रित करने की क्षमता रखता है तो कीमत बढ़ा कर आय में वृद्धि करने की नीति बेकार साबित हो जायेगी। उत्पादक कीमत बढ़ा कर आय में वृद्धि करने की नीति तभी अपनायेगा जब वह आश्वस्त हो जाये कि कीमत बढ़ाने के बावजूद माँग में कमी नहीं होगी। ऐसा सिर्फ अति आवश्यक वस्तुओं के साथ ही हो सकता है। अगर उत्पादक आरामदायक व विलासिता की वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि करता है तो उनकी माँग में भारी कमी हो सकती है। पर खाद्य पदार्थों, ईंधन, दवाई जैसी वस्तुओं और चिकित्सा, शिक्षा जैसी सेवाओं की कीमत बढ़ाने के बावजूद इनकी माँग में विशेष कमी नहीं आयेगी। इससे उत्पादक की आय बढ़ेगी और उसे अधिक मुनाफा होगा। एक उपभोक्ता आटे की कीमत बढ़ने पर भी उसे खरीदने को मजबूर होगा, पर शीतल पेय के साथ यह बात नहीं है। इस तरह हम पाते हैं कि पूँजीपति मुनाफा में वृद्धि के लिए आटे की कीमत तो बढ़ाना चाहेगा, पर शीतल पेय की नहीं। शीतल पेय के मामले में वह प्रचार की नीति अपनायेगा ताकि उपभोक्ता प्रचार से प्रभावित हो कर उस वस्तु को कुछ बढ़ी हुई कीमत पर भी खरीदने को तैयार हो जाये। अब समझ में आ सकता है कि क्रिकेटर्स और फिल्मी सितारों पर पेप्सी और कोका कोला जैसी कम्पनियाँ अरबों रुपया क्यों फूँकती हैं। आज इन बड़ी कम्पनियों ने बड़े पैमाने पर प्रचार को साधन बना कर छोटे-मोटे उत्पादकों के इस क्षेत्र में प्रवेश की सम्भावना ही खत्म कर दी है। अभी हाल ही में सरकार ने बहुब्राण्ड-रिटेल के क्षेत्र में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की छूट दी थी, राज्यों में होने वाले चुनावों के चलते इसे फिलहाल वापस ले लिया है। पर निकट भविष्य में इसे मंजूरी दी जा सकती है। सरकार का तर्क है कि इससे कीमतें कम होगी। हाँ! शुरुआत में छोटे व्यापारियों को बाजार से धकेलने के लिए कीमतें कम भी हो जाये पर भविष्य में तो कम्पनियों का एक क्षत्र राज होगा। तब कीमत भी उनकी, विलास-उपभोग संस्कृति भी उनकी।

शासक वर्ग और पूँजीपतियों को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि लोग कुपोषण और भूख से मरते हैं, किसान आत्महत्या करते हैं, लोगों की स्वास्थ्य व शिक्षा जैसी जरूरतें पूरी होती हैं या नहीं। पूँजीपतियों की चिंता का विषय है उनका लाभ और नेताओं की चिंता का विषय है उस लाभ में उनका कमीशन। □

मूलाधार और अधिरचना में जाति व्यवस्था

-बुद्धेश

भारत में जाति व्यवस्था कई दशकों से चर्चा का विषय रही है। वामपंथी आन्दोलन में इस समस्या को लेकर एक लम्बे अरसे से विचार मंथन चल रहा है। इस चर्चा में खासकर कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी आन्दोलन का भी हस्तक्षेप रहा है। एक सैद्धान्तिक आन्दोलन होने के चलते, जब कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी आन्दोलन ने इस पर विचार मंथन शुरू किया तब यह स्वाभाविक ही था कि इस विषय पर वह व्यापकता और गहराई में जाकर विचार-विमर्श करे तथा इसका सांगोपांग अध्ययन करे और समाधान प्रस्तुत करे।

जाति व्यवस्था की उपस्थिति और समस्या की अंतर्वस्तु एवं स्वरूप पर वामपंथी आन्दोलन में काफी हद तक सहमति है। आन्दोलन एकमत है कि जाति समस्या भारतीय समाज का यथार्थ है।

भारतीय इतिहास में, खासकर ज्ञात इतिहास से लेकर भावी आन्दोलन तक के विचारकों ने तथा फुले, अम्बेडकर, पेरियार, लोहिया जैसे पुरोधाओं ने जाति-समस्या पर महत्वपूर्ण विमर्श किया और उसके उन्मूलन के लिये व्यवहारिक आंदोलनों को जन्म दिया। इन सभी का अवदान महत्वपूर्ण रहा। लेकिन जाति-समस्या आज भी एक अभिशाप बनी हुई है और समाप्त होने का नाम नहीं ले रही।

जाति समस्या अधिरचना तक ही सीमित है या मूलाधार में भी धँसी हुई है, यह एक विवाद का विषय है। संभवतः इसीलिए आयोजकों ने मूलाधार और अधिरचना में जाति समस्या को गोष्ठी में बहस के लिये रखा है।

मूल समस्या पर विचार रखने से पहले इस विषय पर अपनी राय रखेंगे कि यह भ्रम क्यों बना हुआ है कि मूलाधार से जाति की समस्या समाप्त हो गयी है और यह केवल अधिरचना तक ही सीमित है। इसके कुछ निश्चित कारण हैं।

पहला यह कि 1947 के बाद, कांग्रेस राज में आधा-अधूरा भूमि-सुधार सम्पन्न हुआ जिसमें बड़ा सामंतवाद या ऊपरी स्तर का सामंतवाद (बिग फ्यूडलिज्म और फ्यूडलिज्म फ्रॉम अबव) समाप्त प्राय हो गया। राजे-रजवाड़े, नवाबी-जागीरदारी, जमींदारी आदि समाप्त हुआ तथा राज्य और रैयत के बीच बिचौलियों की समाप्ति हुई। यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि इस परिवर्तन ने भारतीय समाज को प्रभावित किया और जाति व्यवस्था पर भी असर डाला।

दूसरा कारण है सार्विक मताधिकार। संविधान बनने के बाद और 1952 में हुए आम चुनावों के साथ बड़े पैमाने पर पहली बार समाज के सबसे निचले तबके और जातियों के लोगों ने भी इसमें

हिस्सेदारी की। यह हिस्सेदारी निर्विघ्न और निर्बाध नहीं थी। इसमें अनेक अड़चने डाली गयीं। फिर भी यह हिस्सेदारी एक के बाद एक चुनावों में बढ़ती गयी। कालांतर में बंगाल से लेकर पंजाब तक संविद सरकारें बनी और कांग्रेसी हुकूमत विस्थापित हुई। चरण सिंह और कर्पूरी ठाकुर से लेकर मुलायम सिंह, लालू प्रसाद, मायावती, नितीश कुमार आदि के आविर्भाव की जड़ें इसी में हैं। यह परिघटना देश के अन्य हिस्सों में भी घटित हुई।

यह हिस्सेदारी अकारण नहीं थी और यह आसमान से टपकी हुई चीज नहीं थी। 1947 के बाद जो सामाजिक प्रक्रिया चलती रही, उसी का यह परिणाम था। यह शासक एवं शोषक वर्गों द्वारा एक सुविचारित नीति और योजना के तहत हुआ और इसने भी भारतीय समाज पर गहरा असर डाला।

तीसरा कारण है आरक्षण। आरक्षण की नीति ने भी भारतीय समाज पर असर डाला है। भारतीय शासक एवं शोषक वर्गों द्वारा दलित जातियों को अपने में समाहित कर लेने की प्रक्रिया (एसिमिलेट्री प्रॉसेस) की नीति अख्तियार की गयी। इसके तहत जाति-व्यवस्था के निचले पायदान पर खड़े लोगों को नौकरी, शिक्षा और राजनीतिक प्रक्रिया में हिस्सेदारी में आरक्षण देकर उस विशाल जन समुदाय को अपने साथ रखने का प्रयास किया गया। यह नीति मुख्य रूप से शासक वर्गों द्वारा आयोजित और पोषित रही है।

जिस प्रकार अमरीका में काले लोगों को मुख्य पूँजीवादी धारा में शामिल करने के बाद वहाँ काले लोगों के पूँजीवाद (ब्लैक कैपिटलिज्म) का अविर्भाव हुआ, उसी प्रकार भारत में दलितों और जाति-व्यवस्था के निचले पायदान पर खड़े लोगों को शासक और शोषक वर्गों द्वारा अपनी धारा में समाहित कर लेने की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप दलित पूँजीवाद पैदा हुआ है। यही आरक्षण की सीमा है। शासक वर्गों द्वारा किये गये सुधार मुख्यतः ब्राह्मणवाद, मनुवाद, सामंतवाद की रक्षा करते हैं। शासक वर्ग एक छोटे से मुखर तबके को अपने में समाहित कर लेता है और बहुलांश दलित आबादी को अभिशप्त जीवन जीने के लिये बाध्य कर देता है। समाहित कर लेने की यह प्रक्रिया वर्ग-संघर्ष का मार्ग प्रशस्त करने के बजाय उसे धुँधला करती है और जाति-समस्या को हल करने के बजाय उसे जटिल बना देती है। जाति व्यवस्था का मुकम्मिल समाधान ब्राह्मणवाद, मनुवाद, सामंतवाद के समूल नाश में निहित है और यह सुधारों द्वारा सम्भव नहीं है।

इसके साथ ही अनेक ऐसे छोटे-बड़े फैसले किये गये तथा

नीतियाँ बनायी गयीं, जिन्होंने भारतीय समाज पर असर डाला।

ये सुधर भारतीय समाज में चल रहे वर्ग-संघर्ष का परिणाम थे। 1947 के बाद भारतीय समाज में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निरंतर वर्ग-संघर्ष चलता रहा। मुख्यतः समाजवादियों द्वारा चलाये गये आन्दोलन, कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चलाये गये आन्दोलन और कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी आन्दोलन इसके उदाहरण के रूप में गिनाये जा सकते हैं। निरंतर चलने वाले इस वर्ग-संघर्ष की मुख्य रूप से उल्लेखनीय घटनाएँ हैं तेलंगाना और नक्सलवाड़ी आन्दोलन। इन सभी चीजों के साथ मिलकर गाँव और शहर तक, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से निरंतर चलने वाला यह वर्ग-संघर्ष लोगों की चेतना को उन्नत करता रहा है।

इन सभी घटनाओं के योग ने ही भारतीय समाज में परिवर्तनों को जन्म दिया। यहाँ पर हम इन परिवर्तनों को रेखांकित करने तक ही अपने को सीमित कर रहे हैं।

शासक वर्गों द्वारा अपनायी गयी वे नीतियाँ, चाहे वह ऊपर से सामंतवाद का उन्मूलन हो या सार्विक मताधिकार हो या आरक्षण हो, प्रतिक्रियावादी नीतियाँ रही हैं। इन उपायों ने वर्तमान व्यवस्था के पायों को मजबूत किया है। ये नीतियाँ इस व्यवस्था के पायों को मजबूत करने के लिये ही लागू की गयीं। मुख्य रूप से ये सुधार ही इस सड़ी-गली व्यवस्था को कायम रखने के प्रमुख कारक रहे हैं। संक्षेप में कहें तो इन परिवर्तनों की अलग-अलग समझदारी के फलस्वरूप ही भारतीय समाज के बारे में अलग-अलग चिंतन और सोच पैदा हुई है।

सामंतवाद के बारे में कुछ लोगों का मानना है कि यह मुख्यतः समाप्त हो गया है और इसके अवशेष मात्र ही बचे हैं। ऐसी सोच रखने वालों में भी इस बात पर मतभेद हैं कि अवशेष कितने हैं ज्यादा, कम या बहुत ही कम। लेकिन वे सामंतवाद की समाप्ति के बारे में एक मत हैं। इसी के फलस्वरूप वे कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी आन्दोलन के भीतर यह विचार रखते हैं कि जाति-व्यवस्था का अस्तित्व अधिरचना तक ही सीमित है और मूलाधार में समाप्त हो गया है। लेकिन कुछ लोगों का मनना है कि जाति की समस्या मूलाधार और अधिरचना दोनों में ही मौजूद है। फलतः यह विवाद और गोष्ठी।

हमारा निश्चित और सुविचारित मत है कि जाति-समस्या मूलाधार और अधिरचना दोनों में ही उपस्थित है।

भारत में सामंतवाद

भारत में सामंतवाद दो स्तरों पर रहा है बड़ा सामंतवाद या ऊपरी स्तर का सामंतवाद (बिग फ्यूडलिज्म और फ्यूडलिज्म फ्रॉम अबव) और छोटा सामंतवाद या निचले स्तर पर व्याप्त सामंतवाद (स्मॉल फ्यूडलिज्म और फ्यूडलिज्म फ्रॉम बिलो)। दोनों प्रकार के सामंतवाद इतिहास के अलग-अलग काल-खण्डों में

विकसित हुए हैं, बड़े सामंतवाद का उद्भव प्राचीन भारत में ही हो गया था जबकि छोटे सामंतवाद का उद्भव बाद में हुआ। छोटे सामंतवाद का उद्भव एवं विकास उत्तरवर्ती प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक होता रहा और मुहम्मद-बिन-तुगलक के समय में यह उत्कर्ष पर पहुँचा। दामोदर धर्मानंद कौशाम्बी, रामशरण शर्मा और इरफान हबीब जैसे इतिहासकारों की रचनाओं में छोटे सामंतवाद का विस्तृत वर्णन किया गया है और बताया गया है कि इसका अविभाज्य किस तरह हुआ, कैसे यह फूला-फला और भारतीय सामंतवाद का अविभाज्य अंग बना।

जमींदारी उन्मूलन और उसके बाद किया गया भूमि सुधार और जमीन का बँटवारा यदि ठीक से हुआ होता तो छोटा सामंतवाद भी समाप्त हो गया होता और इससे जुड़ी जाति-व्यवस्था के समाधान का मार्ग भी प्रशस्त हो गया होता। ऐसा न होने से भारतीय परिदृश्य से छोटे सामंतवाद का और इस तरह सामंतवाद का उन्मूलन नहीं हो सका और आज भी वह जमीनी हकीकत है। छोटा सामंतवाद छोटा तो है, लेकिन इसका विस्तार और गहराई ज्यादा है। समूचे भारत के लाखों गाँवों में इसकी उपस्थिति है। आज के जोतकार और भू-स्वामी छोटे सामंतवाद के वर्तमान रूप हैं और समाज के निचले से निचले स्तर तक अपना प्रभाव रखते हैं।

भारत के विस्तृत भूभाग में और गाँवों में जाकर इसकी उपस्थिति को देखा जा सकता है, इसे समझा जा सकता है और इसे महसूस किया जा सकता है। इसके वजूद के बने रहते भारतीय सामंतवाद का अस्तित्व मिटाना असंभव है।

बड़ा सामंतवाद ब्रिटिश काल में ही अंग्रेजों के हाथों सैन्य और राजनीतिक शक्ति से वंचित कर दिया गया था। आजादी के बाद बड़े पूँजीपति वर्ग ने इसे आर्थिक रूप से भी वंचित कर दिया और इसका उन्मूलन हो गया। चूँकि यह पहले से ही सैन्य और राजनीतिक शक्ति से वंचित था अतः इसका प्रतिरोध कमजोर था और यह पूँजीपति वर्ग का मुकाबला नहीं कर पाया था। भारतीय परिदृश्य से यह मूलतः और मुख्यतः समाप्त हो गया। किन्तु इसके अवशेष बने रहे।

बड़े सामंतवाद की उपस्थिति उनको दिये जाने वाले प्रिवी पर्स, भत्ते, विशेषाधिकार इत्यादि के रूप में बनी रही, जिसे 1971 में समाप्त कर दिया गया। इसके आलावा भू-स्वामित्व, भवन, बगीचे, हीरे-जवाहरात और अकूत सम्पत्ति के अन्य रूपों में भी बड़े सामंतवाद की उपस्थिति बनी रही।

जाति की समस्या भारतीय सामंतवाद से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। जाति समस्या की गहरी जानकारी के बिना भारतीय सामंतवाद को नहीं समझा जा सकता है और इसका उन्मूलन नहीं किया जा सकता है।

जन-जातियों की समस्या भारतीय सामंतवाद को एक नया

आयाम देती है, उसे मजबूत बनाती है और उसकी जटिलता को और बढ़ा देती है।

छोटे सामंतवाद की मौजूदगी, मंदिरों, मस्जिदों-चक्फों, गिरजाघरों, गुरुद्वारों आदि की मौजूदगी और बड़े सामंतवाद के अन्य अवशेष, तथा जाति-समस्या ये सब मिलकर आज भारतीय समाज में सामंतवाद को मौलिक अंतर्विरोध बनाते हैं।

सामंतवाद एक उत्पादन प्रणाली है। कोई भी उत्पादन प्रणाली समाज में मौजूद वर्गीय सम्बन्धों और समूचे मानवीय सम्बन्धों आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, वैचारिक, मनोवैज्ञानिक सभी को अपने में समेटे हुए होती है।

जाति व्यवस्था और भूमि सुधार

जाति व्यवस्था का सीधा सम्बन्ध जमीन के मालिकाने से है। अफ्रीकी-अमरीकी लोगों की समस्या पर विचार करते हुए माओ ने कहा था कि यह मूलतः भूमि समस्या है। अफ्रीकी-अमरीकियों की समस्या और जाति समस्या, इन दोनों में कुछ समानताएँ हैं, लेकिन भारत की जाति व्यवस्था ज्यादा जटिलता लिये हुए है। दलित जातियाँ जमीनों से वंचित रही हैं और वे जाति व्यवस्था के सबसे निचले पायदानों पर स्थित हैं। सवर्ण जातियों के पास ही जमीन की मिलकियत रही है और वे जाति व्यवस्था के ऊपरी पायदान पर स्थित हैं।

दलितों और छोटी जातियों की भारी आबादी जमीन से वंचित रही है और आज भी भूमिहीन है। यह स्थिति केवल जाति व्यवस्था के कारण बनी हुई है। यह किसानों की एकता को खंडित करती है। किसान अलग जातियों के होने के कारण बंटे हुए है।

पूरे देश के पैमाने पर देश का एक बड़ा हिस्सा ऊपरी जातियों के हाथों में है। यदि मुकम्मिल भूमि सुधार किया गया होता तो यह निश्चित था कि दलितों और जाति-व्यवस्था के निचले पायदानों पर खड़े अन्य जातियों के हाथों में जमीन जाती, उनकी आर्थिक स्थिति सुधरती और जाति व्यवस्था के समाधान का मार्ग प्रशस्त होता, लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

भूमि सुधार के तहत जहाँ चीन में 43 प्रतिशत, ताइवान में 37 प्रतिशत, दक्षिण कोरिया में 32 प्रतिशत तथा जापान में 33 प्रतिशत खेती योग्य जमीनों का पुनर्बंटवारा किया गया था, वहीं भारत में भूमि सुधार के नाम पर केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा सम्मिलित रूप से 1995 तक के 35 सालों के प्रयास से कुल खेती योग्य जमीन का केवल 1.25 प्रतिशत ही पुनर्वितरित हो पाया। (लेण्ड रिफॉर्म इन इण्डिया [खण्ड-3] पेज-21)

ये आँकड़े स्पष्ट करते हैं कि भारत में मूलतः और मुख्यतः भूमि सुधार का काम पूरा नहीं हुआ। इसके परिणामस्वरूप निचले स्तर का छोटा सामंतवाद बचा रहा। चूंकी भूमि सुधार मूलतः और मुख्यतः पूरा नहीं हुआ इसलिए ऊपरी जातियों के पास जमीनों का

मालिकाना बना रहा और उनकी परजीविता भी बनी रही।

जाति, जमीन और जनवाद

जाति की समस्या जमीन के साथ अन्योन्याश्रित रूप से जुड़ी हुई है। जमींदारी उन्मूलन और टीनेन्सी एक्ट लागू होने के बाद तथा अन्य कारणों के चलते कुछ मध्य जातियों को जमीन मिली और बाद में इनका एक तबका कुलक, मध्यम किसान, धनी किसान और फार्मर के रूप में विकसित हुआ।

जमीन की समस्या जनवाद के साथ जुड़ी हुई है। संविधान और भारत के सारे कानून मिला कर भी जनता को जनवाद नहीं दिला पाते हैं। संविधान प्रदत्त राहत बहुत थोड़े से लोगों को ही प्राप्त होती है। आम जनता को राहत कानून-व्यवस्था देती हैं। भारत की कानून-व्यवस्था औपनिवेशिक है, जो जनता को सम्पूर्ण अधिकारों से वंचित करती है। जनता को जो भी अधिकार हासिल हैं उन्हें भोगा नहीं जा सकता क्योंकि राज्य का क्रमशः बढ़ता दमनात्मक चरित्र क्रूर से क्रूरतम होता चला गया है।

भूमि क्रांति को जनवादी क्रांति भी कहते हैं। भूमि क्रांति और जनवादी क्रांति एक दूसरे के पर्याय हैं। भारत में मूलतः और मुख्यतः भूमि क्रांति या उग्र भूमि सुधार विफल रहा है और जमीन के मालिकाने की समस्या आज भी बनी हुई है।

बाँटने भर को काफी जमीन मौजूद है। खेती योग्य पूरी जमीन, परती जमीन और बेकार पड़ी कृषि योग्य जमीन को सभी ग्रामीण परिवारों में बराबर-बराबर बाँट दिया जाय तो हर ग्रामीण परिवार को औसत 3.68 एकड़ जमीन उपलब्ध हो जायेगी। यदि नौकरी या अन्य पेशा करने वाले लोगों, जिनकी खेती में कोई दिलचस्पी नहीं है, की कुल 2 करोड़ एकड़ जमीन को भी वितरित कर दिया जाय तो खेती करने वाले परिवारों को उपलब्ध जमीन का औसत और बढ़ जायेगा। (एनएसएस, हाउस होल्ड ओनरशिप होल्डिंग इन इण्डिया, रिपोर्ट न.-491 (59/18-1-4); वार्षिक रिपोर्ट 1996-97, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार; (लेण्ड रिफॉर्म इन इण्डिया, खण्ड-5, पेज -42 और 186)।

समाजवादी राज्य देश के पैमाने पर समूची जमीन का राष्ट्रीयकरण करेगा और प्राथमिकता क्रम में जाति-व्यवस्था के सबसे नीचे के पाये पर खड़े लोगों को जमीन बाँटता हुआ क्रमशः ऊपर के गरीबों की तरफ जायेगा। जमीन के बाँटवारे के बाद भारतीय किसान सहकारी खेती से कम्प्यून की यात्रा करता हुआ जनवादी क्रांति को संपन्न करेगा और समाजवाद की तरफ आगे बढ़ते हुए मुकम्मिल जनवाद हासिल करेगा।

समाजवादी राज्य के अंतर्गत किसान सोवियत के प्रत्यक्ष नेतृत्व में जमीन का वितरण, नियमन, संवर्धन और को-ऑपरेटिव तथा कम्प्यून का संचालन होगा। क्रांति अपने पूरे दौर में मूलाधार और अधिरचना पर निरंतर प्रहार जारी रखेगी और संघर्ष के नये-नये

रूपों को विकसित कर सामंतवाद और जातिवाद के सूक्ष्म से सूक्ष्मतरंग रूपों पर प्रहार करती रहेगी।

नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे की, उलट-पलट की एक सामाजिक प्रक्रिया ही भारत में जनवादी क्रांति के कार्यभार को पूरा कर सकती है। ऐसा इसलिए क्योंकि यहाँ जातियों की समस्या मौजूद हैं। जमीन के बँटवारे के बाद सहकारिता से कम्यून की यात्रा में जनवादी क्रांति को मुकम्मिल करते हुए जाति-समस्या के समूल उन्मूलन का मार्ग प्रशस्त होगा।

जाति समस्या को हल करने के लिये जमीन का मुकम्मिल बँटवारा अनिवार्य हैं। लेकिन इसके पहले से ही क्रांतिकारियों को मूलाधार और अधिरचना पर एक ही साथ निरंतर प्रहार जारी रखना

होगा। इसके खिलाफ शैक्षणिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक स्तर पर संघर्ष करना तथा जमीनी स्तर पर जनवादी अधिकारों के लिये निरंतर संघर्ष करते रहना जरूरी होगा।

जाति-समस्या के मूलाधार में सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने के बाद अधिरचना में भी मुकम्मिल रूप से इसके उन्मूलन का मार्ग प्रशस्त होगा। इतिहास की सही समझ देकर, वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करके और मानवता के सही मूल्य पैदा करके इंसान-इंसान के बीच में सही रिश्ते कायम किये जा सकते हैं। इस प्रकार जाति-व्यवस्था को समूल नष्ट किया जा सकता है।

(जाति विरोधी आन्दोलन द्वारा 20-22 अप्रैल को नई दिल्ली में आयोजित सेमिनार में प्रस्तुत आलेख) □

किसी गरीब बच्चे को किस तरह से न पढ़ाया जाय

(सबके लिये प्राथमिक शिक्षा कानून बन जाने के बावजूद गरीब बच्चों की शिक्षा सरकारी उपेक्षा और दुर्दशा का शिकार है। देश के पाँच प्रमुख शिक्षा शास्त्रियों का यह खुला पत्र हिन्दुस्तान टाइम्स अखबार द्वारा गरीब बच्चों की शिक्षा का मजाक उड़ाने के खिलाफ तो है ही, यह बाल शिक्षण से सम्बंधित कुछ बुनियादी सैद्धान्तिक बिंदुओं को भी बहुत ही गम्भीरता से उठाता है और विचार-विमर्श का आधार प्रदान करता है।)

खुला पत्र

सेवा में,
प्रधान सम्पादक
दि हिन्दुस्तान टाइम्स

दि हिन्दुस्तान टाइम्स द्वारा की गयी इस घोषणा ने हम सब को आकर्षित किया कि वह अपनी हर प्रति की बिक्री से प्राप्त आय में से 5 पैसा गरीब बच्चों की शिक्षा पर खर्च करेगा। हालाँकि हमें यह नहीं बताया गया कि इस पैसे को कैसे खर्च किया जायेगा। यह महत्वपूर्ण है कि किसी बच्चे की शिक्षा चलताऊ ढंग से किया जाने वाला काम नहीं है। स्कूली शिक्षा कई तरह के घटकों से युक्त एक समग्रतावादी अनुभव है जिसकी पहचान और चुनाव पाठ्यक्रम के प्रारूप द्वारा की जाती है और जिसका उद्देश्य शिक्षा का वह लक्ष्य हासिल करना होता है जिसे

समाज समय-समय पर अपने लिए निर्धारित करता है।

हिन्दुस्तान टाइम्स ने 19 अप्रैल, 2012 को हिन्दी और अंग्रेजी में चित्रमय बारहखड़ी भी प्रकाशित की थी। अपने पाठकों से उसने कहा था कि इन सभी पन्नों को काटकर उन्हें एक साथ मिलाकर नथ्थी (स्टेपल) कर के वर्णमाला की किताब बनायें और उन्हें किसी गरीब बच्चे को देकर उसे पढ़ने के लिये प्रोत्साहित करें। इसका मकसद नेक लगता है, जबकि साफ तौर पर यह एक नासमझी भरा, दिशाहीन और निरर्थक निवेश है जिससे किसी गरीब बच्चे की कोई मदद नहीं होती। ऐसा कहने के पीछे सामाजिक व शैक्षिक कारण हैं। शिक्षा का अधिकार विधेयक के अनुसार शिक्षा पाना एक अधिकार है, जिसका हकदार भारत का हर एक बच्चा है। इस लक्ष्य को कुछ सदाशयी लोगों द्वारा किये जाने वाले परोपकार द्वारा नहीं पाया जा सकता। यह समानता के सिद्धांत पर आधारित है जिसका अर्थ यह है कि बच्चा एक समान गुणवत्ता वाली शिक्षा

का हकदार है। इसका कार्यान्वयन एक सुपरिभाषित संस्थागत तौर-तरीके से किया जाना चाहिए। हिन्दुस्तान टाइम्स ने जो किया है वह यह कि उसने अपने पाठकों की अंतरात्मा से विनती की है, ताकि उसके पाठक गरीब बच्चों के साथ सहानुभूति के कारण इन पन्नों को फाड़कर उन्हें स्टेपल करके उनके लिये भाषा की पहली किताब बनाने के लिये थोड़ा समय निकालें। यह एक तरह से उनके ऊपर तरस खाना है जिसे कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा। इस अभियान की रूपरेखा बनाने वालों को अपने आप से यह सवाल पूछना चाहिये कि क्या वे अपने बच्चों के साथ ऐसा करेंगे? अगर नहीं, तो एक गरीब बच्चे के साथ ऐसा करना कैसे ठीक है? अभियान प्रबंधकों के लिए यह भी रुचिकर होगा कि वे एक सर्वे करके पता करें कि इस परोपकार में उनके कितने पाठक सचमुच शामिल हुए।

समता और समानता को लेकर अपनी असंवेदनशीलता के अलावा आज शिक्षाशास्त्र के दृष्टिकोण से भी यह अभियान गलत है। 2012 के इस साल में कोई भी भाषा शिक्षक वर्णमाला की किताब को भाषा सीखने के लिये शुरूआती उपकरण के रूप में नहीं सुझायेगा। भाषा शिक्षा शास्त्र उस जमाने से बहुत आगे निकल गया है, जब अक्षर ज्ञान कराना भाषा सीखने की दिशा में पहला कदम हुआ करता था। अगर अभियानकर्ताओं ने राष्ट्रीय पाठ्यक्रम रूपरेखा 2005 और भाषा सीखने पर केन्द्रित समूह के सुझावों पर ध्यान दिया होता तो शायद वे समझ जाते कि अब भाषा सीखाना बहुत ही विवेकपूर्ण शिक्षण विधि हो गया है। अगर उनका तर्क यह है कि जो बच्चे भाषा सीखने के आधुनिक तरीकों से वंचित हैं, उन्हें कम से कम इतना तो मिल ही जाना चाहिए, तो यह एक बार फिर समानता के संवैधानिक सिद्धान्त की अवहेलना है।

काफी अधिक प्रयासों के बाद हम 'क से कबूतर' के जरिये भाषा सीखाने की बेहदगी से आगे निकल पाये हैं और यह क्षोभकारी है कि बिना सोचे-समझे एक बड़ी मीडिया एजेन्सी इसे दुबारा वापस ला रही है।

हालाँकि पाठ्य-पुस्तक महत्त्वपूर्ण होते हैं, पर ये इसका केवल एक भाग ही हैं। पाठ्य-पुस्तक की अर्न्तवस्तु और कलेवर एक दूसरे से पूरी तरह गुंथे होते हैं वे सिर्फ काटने-चिपकाने-सिलने का धंधा नहीं होते। बहुभाषिक संदर्भ में किसी बच्चे के लिये भाषा की पहली किताब का प्रारूप तैयार करने के लिए बहुत ही जिम्मेदारी भरे चिन्तन की जरूरत होती है और जो लोग भाषा सीखने के मामलों में अशिक्षित हों और इस क्षेत्र में ताजा शोध से परिचित नहीं हैं, उन्हें इस काम में हाथ नहीं डालना

चाहिये। किसी बच्चे के हाथों में भाषा की पहली किताब एक सम्पूर्ण अनुभव होती है। इसे बच्चे की सभी ज्ञानेन्द्रियों को जागृत और उत्तेजित करने में समर्थ होना चाहिये। इसके अलावा, बहुत कम उम्र में पढ़ाने को अब बहुत ही गम्भीरता से लिया जाता है। इस अभियान की रूपरेखा बनाने वालों के लिये एनसीईआरटी और कई राज्यों द्वारा पहली और दूसरी कक्षा के बच्चों के लिये चलाये जा रहे पठन-कार्यक्रम को देख लेना सही रहेगा। गरीब बच्चे अच्छी तरह डिजाईन की गयी और अच्छे कागज पर छपी बेहतरीन पाठ्य-पुस्तकों और पठन सामग्री के हकदार हैं जो अखबारी कागज पर न छपें हों और जो पूरे साल चल सकें।

सामाजिक विविधता के दृष्टिकोण से देखा जाय, तो भी हिन्दी अक्षरों के साथ दर्शाये गये चित्र इस तरह के होते हैं जो बच्चों की उस भारी बहुसंख्या को ध्यान में रखकर नहीं बनाये जाते, जिनका उच्च वर्ण पुरुष हिन्दू प्रतीकों वाली परम्परा में लालन पालन नहीं हुआ होता।

जिस तिरस्कारपूर्ण तरीके से पूरे अभियान की रूपरेखा तैयार की गयी है, वह इसके पीछे काम करने वाले दिमागों की ओर ध्यान खींचती है और इसे संचालित करने वाले लोगों को संदेह के घेरे में ला खड़ा करती है क्या वे वाकई शिक्षा-प्रणाली को मदद पहुँचाने के प्रति गम्भीर हैं? अगर हाँ तो उन्हें यह पैसा इस तरह की सांकेतिक चेष्टाओं पर उड़ाने के बजाय शिक्षा के कारोबार में लगी पेशेवर संस्थाओं को दे देना चाहिये, हालाँकि यह भी एक घटिया निवेश ही है।

विश्वास भाजन,

अपूर्वानन्द, प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय, सदस्य, फोकस ग्रुप ऑन इण्डियन नेशनल लैंग्वेज करिकुलम फ्रेमवर्क, 2005।

कृष्ण कुमार, प्रोफेसर, सीआईई, दिल्ली विश्वविद्यालय, पूर्व निदेशक, एनसीईआरटी।

कुमार राणा, प्रतिची, कोलकाता।

शबनम हाशमी, सदस्य, एमएईएफ, एनएलएमए।

विनोद रैना, सदस्य, एएनसी-आरटीआई।

-अंग्रेजी से अनुवाद- सतीश।

□

“द ग्रेट डिक्टेटर” फिल्म में चार्ली चैपलिन का भाषण

(चार्ली चैपलिन ने “द ग्रेट डिक्टेटर” फिल्म के इस भाषण में विश्व जन-गण की आकाँक्षाओं को अनुपम कलात्मकता के साथ अभिव्यक्त किया है और यह आज भी प्रासंगिक है। अनुवाद- पारिजात।)

माफ कीजिये, मैं सम्राट बनना नहीं चाहता, यह मेरा धंधा नहीं है। मैं किसी पर हुकूमत नहीं करना चाहता, किसी को हराना नहीं चाहता। मुमकिन हो तो हर किसी की मदद करना चाहूँगा। हम सब एक-दूसरे की मदद करना चाहते हैं, इंसान की फितरत यही है। हम सब एक दूसरे के दुख की कीमत पर नहीं, बल्कि एक दूसरे के साथ मिल कर खुशी से रहना चाहते हैं। हम एक दूसरे से नफरत और घृणा नहीं करना चाहते। इस दुनिया में हर किसी के लिए गुंजाइश है और धरती इतनी अमीर है कि सबकी जरूरतें पूरी कर सकती है।

जिन्दगी जीने का सलीका आजाद और खूबसूरत हो सकता है। लेकिन हम रास्ते से भटक गये हैं।

लालच ने इन्सान के जमीर को जहरीला बना दिया है, दुनिया को नफरत की दीवारों में जकड़ दिया है; हमें मुसीबत और खून-खराबे की हालत में धकेल दिया है।

हमने रफ्तार पैदा की, लेकिन खुद को उसमें जकड़ लिया-

मशीनें बेशुमार पैदावार करती हैं, लेकिन हम कंगाल हैं। हमारे ज्ञान ने हमें सनकी बना दिया है, चालाकी ने कठोर और बेरहम।

हम बहुत ज्यादा सोचते और बहुत कम महसूस करते हैं-

मशीनों से ज्यादा हमें इंसानियत की जरूरत है; चालाकी की बजाय हमें नेकी और भलमनसाहत की जरूरत है।

इन खूबियों के बिना जिन्दगी वहशी हो जायेगी और सब कुछ खत्म हो जायेगा।

हवाई जहाज और रेडियो ने हमें एक दूसरे के करीब ला दिया। इन खोजों की प्रकृति इंसानों से ज्यादा शराफत की माँग

करती है, हम सबकी एकजुटता के लिये दुनिया भर में भाईचारे की माँग करती है। इस वक्त भी मेरी आवाज दुनिया भर में लाखों लोगों तक पहुँच रही है, लाखों निराश-हताश मर्दों, औरतों और छोटे बच्चों तक, व्यवस्था के शिकार उन मासूम लोगों तक, जिन्हें सताया और कैद किया जाता है। जिन लोगों तक मेरी आवाज पहुँच रही है, मैं उनसे कहता हूँ कि “निराश न हों।”

जो बदहाली आज हमारे ऊपर थोपी गयी है वह लोभ-लालच का, उस आदमी के नफरत का नतीजा है जो इंसानी तरक्की के रास्ते से डरता है- लोगों के मन से नफरत खत्म होगी, तानाशाहों की मौत होगी और जो सत्ता उन लोगों ने जनता से छिनी है, उसे वापस जनता को लौटा दिया जायेगा और (आज) भले ही लोग मारे जा रहे हों, मुक्ति नहीं मरेगी।

सिपाहियो! अपने आप को धोखेबाजों के हाथों मत सौंपो। जो लोग तुमसे नफरत करते हैं और तुम्हें गुलाम बनाकर रखते हैं, जो खुद तुम्हारी जिंदगी के फैसेले करते हैं, तुम्हें बताते हैं कि तुम्हें क्या करना है, क्या सोचना है और क्या महसूस करना है, जो तुमसे कवायद कराते हैं, तुम्हें खिलाते हैं, तुम्हारे साथ पालतू जानवरों और तोप के चारे जैसा सलूक करते हैं।

अपने आप को इन बनावटी लोगों, मशीनी दिल और मशीनी दिमाग वाले इन मशीनी लोगों के हवाले मत करो। तुम मशीन नहीं हो। तुम पालतू जानवर नहीं हो। तुम इन्सान हो। तुम्हारे दिलों में इंसानियत के लिये प्यार है। तुम नफरत नहीं करते, नफरत सिर्फ वे लोग करते हैं जिनसे कोई प्यार नहीं करता, सिर्फ बेमुहब्बत और बेकार लोग। सिपाहियो! गुलामी के लिए नहीं आजादी के लिए लड़ो।

तुम ही असली अवाम हो, तुम्हारे पास ताकत है, ताकत मशीन बनाने की, ताकत खुशियाँ पैदा करने की, तुम्हारे पास जिन्दगी को आजाद और खूबसूरत बनाने की, इस जिन्दगी को एक अनोखा अभियान बना देने की ताकत है। तो आओ, लोकतंत्र के नाम पर इस ताकत का उपयोग करें, हम सब एक हो जायें। एक नयी दुनिया के लिये संघर्ष करें, एक खूबसूरत दुनिया, जहाँ इंसानों के लिए काम का अवसर हो, जो हमें बेहतर आने वाला कल, लम्बी उम्र और हिफाजत मुहैया करे। धोखेबाज इन्हीं चीजों का वादा करके सत्ता पर काबिज हुए थे, लेकिन वे झूठे हैं। वे अपने वादे को पूरा नहीं करते और वे कभी करेंगे भी नहीं। तानाशाह खुद तो आजाद होते हैं, लेकिन बाकी लोगों को गुलाम बनाते हैं। आओ हम इन वादों को पूरा करवाने के

लिये लड़ें। कौमियत की सीमाओं को तोड़ने के लिये, लालच को खत्म करने के लिये, नफरत और कट्टरता को जड़ से मिटाने के लिये, दुनिया को आजाद कराने के लिये लड़ें। एक माकूल और मुकम्मिल दुनिया बनाने की लड़ाई लड़ें। एक ऐसी दुनिया जहाँ विज्ञान और तरक्की सबकी जिन्दगी में खुशहाली लाये।

सिपाहियो! आओ, लोकतंत्र के नाम पर हम सब एकजुट हो जायें!

अनाद्यतं

बस एक कविता सा कुछ

खंडित हो

अणुओं, पमाणुओं में

विघटित विखंडित हो

न्यष्टि के चारों ओर

न्यूट्रॉनों की मानिंद

चक्कर लगाते फैल गया है

समस्त ब्रह्मांड में

तुम्हारा रूप

तुम्हारा आकार

तुम्हारा वो चित्र

जिसे मैं प्यार करता था

बदल गया है वो इतना

कि पहचान में नहीं आता

चीन्हा नहीं जा पाता

बस महसूस होता है

व्याप्तस सा रहता है

अमराई की तरह

मौसम की पहली बारिश में

भीगती मिट्टी की सोंध की तरह

ठिठुराते जाड़े में

खिडकी के कांच से आती

भरकाती धूप की तरह

ऐसे में जब आ जाती हो

तुम

अंधड की तरह

मैं तिनके की तरह

उडता फिघरता हूँ

फिंक जाता बिखर जाता हूँ

अनादि अग्नि पर

राख बन कर

अणुओं परमाणुओं में

रूपांतरित हो जाने

न्यूट्रॉनों प्रोटोनों के रूप में

ब्रह्मांड में

न्यष्टि की परिक्रमा करते रहने को

अनंत काल तक

.....नरेंद्र तोमर

रिसता विकास

.....

नहीं मिलती हैं/बासी रोटियाँ

सड़ी दाल और बुसाते चावल

पत्तलें और दोने/कूड़े में

मिलते हैं/अब

पीजा के टुकड़े

बचा हुआ चाउमिन

अधखाया बर्गर

कोक और पेप्सी कि

खाली अधखाली बोतलें

रिस रिस कर आ रहा

भुक्खिडों तक विकास

नहीं दिखते बच्चे

नंगे अधनंगे

सडकों पर ठिठुरते

मांगते भीख खाते गालियाँ

अब वे पहने है
उतरन की जींस और टोप
फैंसी फ्रोकें
फैशनेबल लिबास
अभागों तक रिस रिस कर
आ रहा विकास

पहुंच रहा गांवों तक
उधारी की लिंक रोडों से
दूध नहीं छाछ नहीं
पेट भ्रर अनाज नहीं
बिस्कुट हैं ब्रेड है
कोक है फेंटा है
शहरों को दूध गया
गांव तक आ रहा
रिस रिस कर विकास

छोटी अब दुनिया है
संचार क्रांति है
सूचना की भ्रांति है
घर में घुस बैठे है
चोर और बाजीगर
चकाचौध है अंधेरा है
मरीचिकाओं ने घेरा है
तपते रेगिस्ताघन में
छा रहा विकास
रिस रिस कर नीचे तक
आ रहा विकास
.....नरेंद्र तोमर

आदत-----

जब बन जाता है कोई
एक आदत
लगती है जो

कभी अच्छी
कभी बोज़ बन जाती है
पर छोडी नहीं जा पाती
तब याद आतेहो
तुम
याद आते हैं
साथ साथ गुजरे
वे कुछ लम्हेज
और उन लम्होंत की
याद बन जाती है
एक आदत
..... नरेंद्र तोमर

एक अंश ,एक लंबी कविता का

सडक किनारे खेत में पडी
मवेशी की सडी लाश पर झुके
उसकी खाल उतारते
आंते निकालते उनको
गंदगी नहीं लगती है
बदबू नहीं लगती है
सिर्फ भूख लगती है
युगों से लगती
चली आई है
और युगों से
उन पर सवार
वे चाहते हैं
सदा की तरह
उनको
गंदगी नहीं लगे
बदबू नहीं लगे
सिर्फ भूख लगे
भिनभिनाती मक्खियों के बीच
भूखे कुत्तों को भगाते वे
सडी लाशों की
खालें उतारते रहें
.....नरेंद्र तोमर